प्रतिनिधि एकांकी

सम्पादक

फूलचन्द्र पाण्डेय, एम० ए०

रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

[मूल्य तीन रुपये

गुरुवर

डा० रामकुमार वर्मा

को

सादर

—फूलचन्द्र पाण्डेय

दो शब्द

यों तो एकांकी-संग्रहों की आज भरमार है। कुछ व्यक्तिगत संग्रहों के रूप में सामने आये हैं और कुछ विभिन्न एकांकीकारों की सामग्री के संकलन के रूप में। व्यक्तिगत संग्रह एकांकीकार विशेष की प्रतिभा एवं विकास के प्रगति-चिह्न के रूप में देखे जाते हैं और संकलन प्रायः विद्यार्थियों के अध्ययन के लिये किये गये हैं। मैं स्पष्टतः इन्हीं प्राप्य संकलनों के विषय में दो शब्द कहना चाहता हूँ।

मुझे यह मान लेने में तनिक भी हिचक नहीं है कि संकलनों में पक्ष दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए और हमारे संकलनकर्ता समाज संकुचित भित्तियों से बाहर आने का बहुत कम प्रयास करते रहे हैं। इसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर जो पड़ता है, वह तो पड़ता ही है, सिद्धान्ततः विद्यार्थी-वर्ग की जागृति प्रवृत्ति को बड़ा धक्का लगता है। परिणामस्वरूप उनकी भीतरी आकांक्षा के कुण्ठित हो जाने का सर्वदा डर बना रहता है। साथ ही, नये एकांकीकारों से वे परिचित नहीं हो पाते। एकांकी की साहित्यिक विधा, नई विधा होने के साथ ही, अत्यन्त प्रगतिशील है, समाज के साथ चल सकने की पूर्ण क्षमता है, समसामयिकता को अपने आप में समेट लेने की शक्ति है। ऐसी परिस्थिति में यह अनिवार्य है कि पाठ्यक्रम के अनुकूल तैयार किये गये संकलनों में विद्यार्थी-वर्ग की आकांक्षाओं के उद्‌बोधन तथा सामूहिक विकास की चेतना सजग और सजीव हो और इसके लिए आवश्यक होगा संकलनकर्ता के आन्तरिक अहं का सन्तुलन, नवनिर्मित साहित्य का अध्ययन तथा उसके प्रति उदार दृष्टिकोण। बिना इनके, किसी भी अर्थ में, संकलनकर्ता अपना पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं निभा सकता ... त कुछ अखरने की है पर सही है; कटु है पर सत्य है। ऐसा लिख ... , पर्याप्त कारण है कि जितने भी संकलन देखने को मिले, उनमें प्रति... त एकांकीकारों की एक-दो रचनाएँ ही देखने को मिलीं, इने-गिने ... कांकीकारों के साथ कुछ ऐसे एकांकीकारों के नाम मिले, जिनका एकांकी संसार में कोई

भी स्थान नही हो सकता । हो सकता है कि उन एकांकीकारों में एकाध एकांकी अच्छे लिखे हों, जिन्हें मान्यता मिलनी चाहिए पर क्या उन साहित्यिकों के प्रति इसे हम अन्याय न कहेंगे जिनके सैकड़ों एकांकी सामने हैं और सभी में कुछ न कुछ समाज के लिए सन्देश हैं। इसलिए मेरा विचार है कि ऐसे संकलनों में विद्यार्थी-वर्ग तथा एकांकी-साहित्य के विकास-परम्परा पर अधिक ध्यान देना चाहिए, न कि व्यक्तिगत परिचयों तथा सम्बन्धों पर ।

प्रस्तुत एकांकी-संग्रह में इस दृष्टिकोण को पूर्णतः अपनाया गया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लब्धप्रतिष्ठ एकांकीकारों के उनके बहु-प्रचलित एकांकियों से भिन्न एकांकी लिए गये हैं तथा कुछ नये मान्य एकांकीकारों को भी संकलन में स्थान दिया गया है। साथ ही यह भी ध्यान दिया गया है कि राजस्थान कहीं अछूता न रह जाय और इस क्षेत्र की प्रगतिशील प्रतिभाओं को स्थान मिले। डा० रांगेय राघव इस क्षेत्र के प्रतिनिधि एकांकीकार के रूप में संकलन में लिए गए हैं।

अन्त में, संकलन में संग्रहीत कृतियों के लेखकों के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य ही नहीं वरन् दायित्व मानता हूँ। साथ ही, अपने सहयोगियों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ जिनका सहयोग इस संकलन में मिला है। श्री बृजनारायण अग्रवाल, एम० कॉम० का मैं विशेष आभारी हूँ, जिनके रात-दिन के उलाहनों के बिना संकलन का कार्य पूरा होना एक प्रकार से असम्भव हो गया था।

आशा ही नहीं वरन् विश्वास भी है कि प्रस्तुत संकलन में अपने द्वारा निर्धारित दृष्टिकोण को स्पष्ट करने में सफल रहा हूँ। पाठकों के सामने संकलन है; इसका निर्णय उन्ही के ऊपर है।

जयपुर
२ अप्रेल, १९५९

फूलचन्द्र पाण्डेय

इससे कम ऐतिहासिक कथावस्तु के एकांकी मिलते हैं जिसमें एकांकीकार का उद्देश्य होता है कि एकांकीकार प्राचीन संस्कृति का सन्देश प्रस्तुत करे। इसका कारण है कि नाटककार के पास न तो अधिक समय है और न घटना का अधिक विस्तार ही। इसी पक्ष की पूर्ति के लिए नाटककार को त्याग और समन्वय की भावना का आश्रय लेना होता है। वह जीवन के एक क्षण में ही "पूर्णता" भर देना चाहता है। प्राप्य एकांकी नाटकों में डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी इस दृष्टि से सफल एकांकी हैं। सेठ गोविन्ददास के एकांकी नाटकों में घटना की प्रमुखता के कारण "चयन वृत्ति" की कमी परिलक्षित होती है। नवोदित एकांकीकार अर्जुन चौबे कश्यप के एकांकी खींचा-तानी करते है, मनोविज्ञान-गत संघर्ष की पूर्णता तक नहीं पहुँच पाते। "अश्क", गोविन्दवल्लभ पन्त आदि के एकांकी नाटकों में गतिशीलता कुछ मन्द रहती है, वह प्रलय की ज्वाला अपने में समेटना भला नहीं मानती। श्री उदयशंकर भट्ट, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर आदि के एकांकी विषय का तब तक साथ देते हैं जब तक कि उन्हें रेडियो टेक-नीक से दूर न जाना पड़े। इन नाटकों के पीछे व्यक्तिगत समस्याएँ स्पष्ट मालूम हो जाती हैं। श्री भट्ट जी ने अपने एकांकियों में समाज की खुली आलोचना भी प्रस्तुत की है। डा० लाल विषय की अपेक्षा मनोविज्ञान तथा परिस्थितियों के प्रभावों पर अधिक बल देते जान पड़ते हैं।

एकांकी कला का प्रमुख आधार संकलन-त्रय है। समय, स्थान और कार्य की एकता में ही एकांकी की सफलता है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार सफल एकांकी के लिए तीनों संकलनों का होना अनिवार्य है। डा० साहब के चारुमित्रा, सप्तकिरण, रूप-रंग आदि एकांकी नाटकों में उनकी यह विचारधारा स्पष्ट हो गयी है। सेठ गोविन्ददास के एकांकी में तीनों संकलनों का प्रयोग नहीं हुआ है। परिणामस्वरूप कथानक का समुचित विकास न होकर उलझ गया है। इनके नाटकों में कहीं कार्य की प्रवृत्ति काम नहीं करती है और कहीं स्थान की। परिणाम यह हुआ है कि नाटककार को कार्य-भार से दबकर १०-११ दृश्यों का विधान करना पड़ गया है। एकांकीकार इन्हीं संकलनों का नम्रता

लिये हुए अतीत-गत घटनाओं का संकेत मात्र प्रस्तुत करता है। वस्तुतः एकांकी की रचना उस हिम-खण्ड जैसी होनी चाहिए जिसका तीन-चौथाई भाग जल में छिपा होता है और जिसके ऊपर दिखाई देने वाले चतुर्थांश द्वारा ही सम्पूर्ण कथानक का अनुमान लगाया जा सके। नाविक की सफलता उस हिम-खण्ड से टकराने में नहीं है वरन् उसकी सफलता है अपने को बचा लेने में। इसी प्रकार एकांकी में अतीत-गत जीवन का अस्पष्ट संकेत करना ही नाटककार की श्रेष्ठता एवं महानता है। एकांकीकार में क्षमता होनी चाहिए कि वह एकांकी में आये हुए पात्रों का सम्पूर्ण जीवन संकेतों के माध्यम से व्यक्त कर सके। इसी प्रवृत्ति विशेष से एकांकीकार कथा आरम्भ होने से पहले वातावरण एवं परि-स्थिति का स्पष्ट संकेत कर देता है ताकि पात्रों की प्रवृत्ति से पाठक या दर्शक परिचित हो जायें।

चरित्र-चित्रण के लिए एकांकीकार मनोविज्ञान का सहारा लेता है। परिस्थिति एवं संवादों के माध्यम से वह किसी पात्र-विशेष का मनोविज्ञान प्रस्तुत करता है। स्वगत-कथन तथा लम्बे संवादों के कारण चरित्र-चित्रण के लिए अपेक्षाकृत अधिक सामग्री मिल जाती है। चरित्र सर्वदा मानव-भूमि पर ही खड़ा होकर बोलता है। कल्पना की आन्तरिक गम्भीरता चाहे किसी चरित्र को गम्भीर क्यों न बनादे, पर वह मानव से अति-मानव में परिणत नहीं हो सकता। एकांकीकार सर्वदा मानव के बीच ही रहना चाहता है। आदर्श और यथार्थ में एकांकीकार यथार्थ का पक्ष ग्रहण करता है। पात्रों की अभिव्यक्ति तथा उनकी सृष्टि एकांकी-कार अपने हाथों में रखता है, अपने से अथवा समाज से ऊपर नहीं। चरित्र में ज्यों-ज्यों गति बढ़ती जाती है, एकांकीकार को अवसर मिलता है कि वह पात्र की आन्तरिक उलझनों को भली-भांति सुलझा सके। कोई भी एकांकीकार किसी समस्या को केवल समस्या बनाकर चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत नही करना चाहता वरन् संकेत प्रणाली से वह उन समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है। पात्र उस समय एकांकीकार के हाथ मे होते हैं। वह जिस प्रकार का समाधान प्रस्तुत करना चाहे, कर सकता है। उस समय पात्र उसके हाथो मे कठपुतली के समान नाचते रहते हैं।

अभिनय तथा रंगमंच की दृष्टि से ये एकांकी नाटक अधिक सफल माने जाते हैं। हिन्दी का अपना रंगमंच स्थिर न होने से पूर्ण नाटकों के अभिनय का प्रश्न ही असंयत लगता है। एकांकी के लिए किसी विशेष प्रकार के रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। उसके लिए एक कमरा, बाग आदि ही पूरा रंगमंच होता है।

जिन विशेषताओं का संकेत ऊपर किया गया है, उन पर प्रायः सभी नाटककार, आलोचक तथा पाठक एकमत हैं। इन एकांकी नाटकों की सफलता उनके रंगमंच के लिए उपयुक्त होने में ही है। इसका कारण यह है कि न तो दृश्य इतने अधिक होते हैं कि कथावस्तु शिथिल पड़ जाय और न कथावस्तु का विकास ही जटिल हो पाता है। एकांकी नाटक अधिक लोकप्रिय हुए हैं और होते जा रहे हैं क्योंकि इनके द्वारा रंगमंचीय नाटकों और साहित्यिक नाटकों के बीच जो खाई बन रही थी, उसे पाट देने का प्रयत्न किया गया है। रंगमंचीय आवश्यकताओं की पूर्ति से व्यावसायियों ने इसका स्वागत किया है और साथ ही साहित्यिकता के आधार पर साहित्य-क्षेत्र में इस विधा विशेष को यथोचित स्थान मिला है।

एकांकी की सफलता के कारणों में, उसमें समाज और जीवन की समस्याओं तथा मानसिक द्वन्द्वों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाना भी है क्योंकि पाठक कथावस्तु के अपने समानान्तर व्यक्तित्व की कथा को अपनी ही कहानी मान बैठता है। एकांकीकार ने मनोविश्लेपण और मनोविज्ञान का समावेश कर, व्यक्तित्व के तट तक जाने का प्रयत्न किया है। पात्र के संकल्प-विकल्प, द्वन्द्व, चेतन और अचेतन मस्तिष्क की प्रतिक्रियाओं को स्वरूप देने में ही एकांकीकार की सफलता है। मनोविज्ञान को अपना माध्यम स्वीकार करते हुए एकांकी लेखक जीवन के अधिक निकट आ गये हैं। इसी कारण आधुनिक एकांकियों में जीवन की आशा, निराशा, द्वन्द्व, संघर्ष, मनोवेग, सुख-दुःख, चिन्ता आदि का अत्यन्त सफल चित्रण हुआ है।

पहले बताया गया है कि हिन्दी एकांकी नाटकों का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूंट' से माना जाता है, यद्यपि कुछ आलोचक इसे 'वैदिकी हिंसा

हिंसा न भवति" से जोड़ने का अन्यथा प्रयास करते हैं। यह नहीं है कि प्रसाद जी का "एक घूंट" नाट्य-परम्परा से पूर्ण मुक्त है फिर भी नवीनता का संकेत अवश्य मिलता है जिसके आधार पर ही उसे सबसे पहला हिन्दी एकांकी मान लेते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने प्रसाद जी द्वारा दिये गये स्वरूप को परिष्कृत करने का प्रयत्न किया है। वर्मा जी की प्रतिभा निस्संदेह बहुमुखी कही जा सकती है। पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, विभूति सप्तकिरण, इन्द्र-धनुष, रूपरंग, रजत-रश्मि, ऋतुराज, रिमझिम, ध्रुवतारिका आदि एकांकी संग्रहों में वर्माजी की एकांकी कला निखरी हुई है। इन एकांकी नाटकों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी आधार-भूमि प्रायः सामाजिक समस्याएँ है, उच्च वर्ग या उच्च मध्यवर्गीय समाज की विषमताओं तथा बाह्य आवरण से घबराये हुए व्यक्ति ही को ऐसे नाटकों मे सर्वदा नायक बनाकर वर्माजी ने समाज का सच्चा चित्र देने का सफल प्रयास किया है। प्रेमचन्द के गोदान में आये हुए डा० खन्ना के चरित्र की भाँति ही शिक्षित वर्ग के प्रतिनिधि पात्रों द्वारा रंगीन जीवन प्रस्तुत करते हुए डा० वर्मा ने समाज की तीव्र भर्त्सना की है, साथ-ही समाज को उच्च शिक्षा के अर्थ के अपच हो जाने का निर्णय दिया है। समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए, एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति पैदा करते हुए डा० वर्मा संघर्षों के माध्यम से आदर्शों की अवतारणा करते हैं, जो किसी भी प्रकार ऊपर से लादे हुए प्रवचन जैसे नहीं लगते और ऐसा प्रतीत होता है जैसे पाठक इस निर्णय को पहले से ही जानता रहा हो। अठारह जुलाई की शाम और परीक्षा इसी प्रकार के एकांकी है जिनमें आदर्शोन्मुख यथार्थ को स्वरूप मिला है। इनके अतिरिक्त डा० वर्मा ने उन सभी सामाजिक समस्याओ को उठाने का प्रयत्न किया है जो आज के समाज मे पके हुए फोडे की भाँति चल रही हैं। विवाह और प्रेम की समस्याएं प्रायः विशृङ्खलित समाज की इसी प्रकार की समस्याएँ कही जा सकती हैं। नहीं का रहस्य, छोटी सी बात, पुरस्कार, आँखों का आकाश आदि एकांकी प्रेम और विवाह से सम्बन्धित एकांकी है। जहाँ तक समाज की विभीषिका मे प्रेम और विवाह की अवतारणा डा० वर्मा के नाटकों में

की गयी है वहीं नागरिक की स्वतन्त्रता, मध्यवर्गीय झूठी शान, पाश्चात्य सभ्यता की देन और प्रभाव तथा व्यावहारिकता का प्रतिपादन भी डा० साहब ने किया है। डा० वर्मा के शेष एकांकी राजनीतिक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक एकांकी कहे जा सकते हैं। विषयों के अनुसार ही डा० साहब ने भाषा का चुनाव भी किया है। सबसे बड़ी विशेषता इन नाटकों की यह है कि इनमें इतिहास, राजनीति तथा मनोविज्ञान के साथ-साथ सामाजिक समस्याओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। हास्य-विनोद के प्रसंग भी आये हैं, पर उनका ध्येय सर्वदा समाज के स्वरूप का दर्शन करना मात्र ही रहा है।

सेठ गोविन्ददास जी के एकांकी नाटकों में चयनवृत्ति की कमी की ओर हमने पहले संकेत किया है। इनके जितने भी एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं उनमें सप्त-रश्मि, चतुष्पद, पंचभूत, स्पर्धा, एकादशी आदि एकांकी संग्रह प्रमुख हैं। जहाँ तक सेठजी के नाटकों की कथावस्तु का सम्बन्ध है उन्होंने समाज और इतिहास दोनों को अपना क्षेत्र चुना है। भूत और वर्तमान के बीच में एकांकीकार यथार्थ चित्रण तो अवश्य कर सकता है पर उसमें भविष्य के लिए कोई सन्देश देने की शक्ति नहीं आ सकती। सेठजी भी अपने को इससे बचा नहीं सके हैं। हिन्दी एकांकी क्षेत्र में सेठ गोविन्ददास ने अनेक प्रयोग किये हैं और सबसे अधिक एकांकी लिखे हैं। यह दूसरी बात है कि ये प्रयोग सफल हैं या असफल क्योंकि हिन्दी नाटकों के लिए भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही नाटकीय परम्पराएँ नई ही रही हैं। यदि हम पिछले इतिहास को देखें तो हिन्दी का साहित्यिक स्वरूप प्रतिपादन करते ही भारतेन्दु के सामने यह समस्या आयी कि हिन्दी रंगमंच का कोई स्वरूप नहीं है। यदि कुछ निर्देश था भी तो वह केवल पुस्तकीय अध्ययन मात्र की देन था। हिन्दी में रंगमंच की आवश्यकता पर हम आगे विवेचन करेंगे।

सेठ गोविन्ददास के प्रयोगों ने इतना अवश्य हुआ है कि आने वाले लेखकों ने बड़ी तैयारी से प्रयोग करने का निश्चय किया है। उन्हें निर्भीक प्रवृत्ति और उत्साह देने का कार्य इन एकांकियों ने किया है।

अभी भी एकांकी क्षेत्र में प्रयोग हो रहे हैं, जो आने वाले भविष्य के उज्ज्वल होने का संकेत करते हैं।

'समाज के बीच में खड़े होकर उसकी विषमताओं को यथार्थ की भूमि पर रखने का प्रयास उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने किया है। यद्यपि, प्रायः इनके नाटकों का क्षेत्र पंजाब ही रहा है पर जिन समस्याओं को उठाने का, जिन्हें परखने का और जिन्हें सुलझाने का प्रयत्न अश्क के नाटककार ने किया है, वे समस्याएँ किसी वर्ग विशेष में बांधी नहीं जा सकतीं। पंजाब के मध्यवर्गीय परिवार से सम्बन्धित कथावस्तु को समाज के दर्पण के रूप में दिया गया है। सच तो यह है कि अश्क ने जिस समाज में पहली बार सांस ली है, वही उनकी लेखनी में समा गया है। एकांकीकार यदि आदर्शों के लिए स्पष्ट सत्य और यथार्थ की उपेक्षा करदे, तो पाठक के प्रति बहुत बड़ा अन्याय होता है पर अश्क जी ने यथार्थ को ही अपना केन्द्र बनाया है, यथार्थ के आगे आदर्शों की उपेक्षा कभी-कभी उन्हें स्वीकार है। कथानक के चुनाव में भी उनकी यह विशेषता रही है कि जीवन को ऐसा चुनकर प्रस्तुत करें कि जिसकी ओर किसी भी सहृदय पाठक का हृदय आकर्षित हो जाय। कथावस्तु को समझ लेने के बाद पाठक यह कह बैठे कि यह कथानक तो उसका पूर्व-परिचित कथानक है, कभी-कभी तो उसके जीवन की एक घटना है। नाटककार की सफलता इसी में है कि वह पाठक को अपने साथ मनचाही परिस्थिति में ला दे। पाठक या दर्शक के हृदय पर चोट करते हुए नाटककार अश्क ने उसे सोचने के लिए छोड़ दिया है।

अश्क की कथावस्तु एक घेरे में घिर गयी है। मध्य वर्ग अथवा निम्न वर्ग का समाज ही उनका केन्द्र बन गया है। सम्भवतः पाश्चात्य प्रभाव में पंजाब के अधिक आ जाने तथा दैनिक समस्याओं को नित्य-प्रति उलझते हुए देखकर ही समाज की विभीषिका ने इन्हें अपनी ओर खींचा है। प्रेम और विवाह की समस्या इनके एकांकियों में अधिक निखरी है। बहिनें, अलग-अलग रास्ते, स्वर्ग की झलक, कैद आदि एकांकी इन्हीं समस्याओं का विश्लेषण हैं। जहां नाटककार अश्क पर पारिवारिक जीवन की दैनिक विषमताओं ने चोट की है वहीं आधुनिक

समाज के आर्थिक पिशाच ने संघर्षों के लिए भी उन्हें तैयार किया है। जहाँ उनके कथानक पारिवारिक जीवन-क्षेत्र से बाहर निकलते हैं, वहीं उनको आर्थिक वैषम्य चुनौती देता है। हमारे आज के समाज का नग्न ढांचा उन्हें पुकारता है जिनके सफल चित्र "देवताओं की छाया में", "अधिकार का रक्षक", "पक्का गाना" आदि से स्पष्ट हुए हैं। सम-सामयिक विषमताओं से हार खाना अश्क के आन्तरिक नाटककार ने नहीं सीखा है। वह यथार्थ के सामने आत्म-समर्पण कर देना नहीं चाहता। उसे समाज के बीच एक आदर्श ज्योति मालूम होती है जो वह तूफान से पहिले "घीसू" के शब्दों में कह बैठता है।

"एक तूफान आ रहा है जिसमें ये सब गुण्डे, ये धर्म और जाति-पाँति के दर्प, गरीबों का लहू पीने वाले पूंजीपति, ये भोले-भाले लोगों को लड़वाकर अपना उल्लू सीधा करने वाले नेता, सब मिट जायेंगे। नई दुनिया बसेगी, जिसमें गरीबों का, मजदूरों का राज होगा, जहाँ हिन्दू-मुसलमान न होंगे, काले-गोरे न होंगे, सब इन्सान भाई-भाई होंगे।" सचमुच इसमें एक नये समाज की कल्पना है। साथ ही सम-सामयिक समाज की भर्त्सना भी है।

अश्क की नाट्य-कला का केन्द्र है—व्यंग, जिस पर पाश्चात्य नाटककारों का प्रभाव माना जा सकता है। इनका नाटककार यह समझ बैठा है कि लोगों की एक सनक होती है और उसी से प्रेरित होते हुए लोग बिना सोचे-समझे कुछ का कुछ कर बैठते हैं। मेरा व्यक्तिगत विचार है कि किसी भी साहित्यिक का इस प्रकार की धारणा बना लेना बहुत स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता। यदि किसी साहित्य-कार की जब कोई विशेष धारणा बन जाती है तब वह उसी प्रकार की परिस्थिति का निर्माण करता है जिसमें उसकी मनचाही मूर्ति रक्खी जा सके। स्पष्ट है कि वह एकांकी का वह रूप होगा, जो साहित्यकार के व्यक्तित्व के समानान्तर होगा। अश्क का नाटककार इस सनक से पराजित कहा जा सकता है।

व्यंग के लिए परिस्थिति बनाने में ही नाटककार की कुशलता का परिचय मिलता है। पात्रों के माध्यम से समाज और व्यक्तित्व की

झलक मात्र देने में व्यंग की सीमा नहीं मानी जा सकती। उसके लिए कहीं-न-कहीं स्पष्ट संकेत होना चाहिए। नाटककार अश्क ने पाश्चात्य नाटककारों से इस गुण-विशेष को अपनाने का अच्छा प्रयास किया है। प्रायः समाज की विभीषिका प्रस्तुत करने में उन्हें काफी सफलता भी मिली है।

श्री उदयशंकर जी भट्ट के एकांकी नाटकों का क्षेत्र समाज और इतिहास रहा है। इतिहास के क्षेत्र में भी भट्ट जी पौराणिक-युग तक पहुँच गये हैं। सौदामिनी जैसे एकांकी बौद्ध-कालीन संस्कृति के परीक्षण की देन हैं। इतिहास और संस्कृति के अनुकूल ही भट्ट जी ने अपने पात्रों को परिस्थितियों का दास न बनाते हुए व्यक्तिगत प्रभावों और व्यक्तित्व से परिचालित घोषित करने का प्रयास किया है। भाषा भी पात्रों के व्यक्तित्व के अनुकूल ही रखी गयी है।

सामाजिक एकांकियों में भट्ट जी समाज की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति से परिचालित हुए हैं।

ध्वनि नाटक

एकांकी के प्रसार में ध्वनि-विस्तारक यन्त्र (रेडियो) का विशेष हाथ रहा है। रेडियो की इस प्रगति ने अनेक एकांकीकारों को जन्म दिया है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। ऊपर एकांकी के उस रूप का ही विवेचन किया गया है जो रंगमंच अथवा अभिनय के लिए ही है। रेडियो मे एकांकी का एक विशेष रूप प्रयुक्त होता है। एकांकी (मूल अर्थ में) तथा ध्वनि-नाटकों में बड़ा अन्तर होता है। रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले एकांकी का वातावरण रंगमंच की सजावट, वेश-भूषा आदि पर आधारित होता है परन्तु रेडियो पर प्रसारित नाटक के लिए केवल ध्वनि का आधार होता है। रेडियो में समस्त इन्द्रियाँ केन्द्रीभूत होकर श्रवणेन्द्रिय के पास रहती हैं।

ध्वनि-नाटकों में घटनाओं की प्रमुखता पर बल दिया जाता है जिसके फलस्वरूप पात्रों के कार्य-कलाप में आरोह-अवरोह उपस्थित किया जा सकता है। साथ-ही-साथ पात्रों अथवा घटनाओं में जितना अधिक

विरोध उपस्थित किया जायगा उतना ही अधिक नाटक के मनोरंजन तत्व का विस्तार होगा। घटनाओं के चुनाव तथा संशोधन में किसी एकांकीकार को अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि असम्भावित तथा अप्रत्याशित घटनाओं के स्वाभाविक संघटन से कौतूहल की कुशल अभिव्यक्ति की जा सकती है। घटना अथवा पात्र अथवा दोनों को ही अत्यन्ताधिक गतिशील होना चाहिए। एकांकीकार को इस गतिशीलता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। घटनाओं को गति देने में ही ध्वनि नाटककार की कुशलता है। उसे चाहिए कि छोटे से छोटे कार्यों की स्वाभाविकता नष्ट न होने दे। यही स्वाभाविकता ध्वनि के साथ मिल कर रेडियो-रूपक सुनने वालों में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। कथा-वस्तु के चयन में नाटककार को इस पर बड़ी सतर्कता से ध्यान देना चाहिए कि ध्वनि-रूपक की कथावस्तु ऐतिहासिक होने की अपेक्षा सामाजिक या पारिवारिक हो, तो उसे अधिक सफलता मिल सकेगी।

ध्वनि-नाटक में रेडियो पर समस्त अभिनय को कण्ठध्वनि द्वारा गुञ्जरित करना होता है। अतः उपयुक्त अभिनेताओं की विशेषता ही ध्वनि-नाटक की सफलता में सहायक हो सकेगी। अवस्था, आत्मा तथा पात्र का समस्त व्यक्तित्व उसी अभिनेता की कण्ठध्वनि पर आधारित होता है। वातावरण प्रस्तुत करने के लिए संगीत का विधान करना पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी ध्वनि-नाटक में केवल कण्ठध्वनि का ही सहारा रहता है जिसके माध्यम से एकांकीकार को वातावरण और समान मनोवैज्ञानिक स्तर बनाना होता है। अन्य सभी उपादान ध्वनि-रूपक के लिए व्यर्थ और अनावश्यक है।

रेडियो के कलाकारों ने श्रोताओं के मनोरंजन को आधार बनाते हुए ध्वनि-नाटक को नाटक, रूपक, संगीत-रूपक, प्रहसन, संवाद, प्रकरी, अन्तर्दृश्य, अन्तर्ध्वनि, प्रस्थापक तथा इतिवृत्त वर्गों में विभाजित कर रक्खा है। इन रूपों का संक्षिप्त परिचय देना यहाँ अनिवार्य दिखाई देता है क्योंकि ये ध्वनि-नाटक की प्रगति के नवीनतम पद-चिह्न हैं।

नाटक—पात्रों से कथावस्तु का आरम्भ कराते हुए, अनेक परिस्थितियों को पार कर, कौतूहलता की भूमि पर जब किसी ध्वनि-नाटक की चरम-

सीमा की परिणति होती है, तब उसे नाटक कहते हैं। नाटककार का ध्येय यहाँ चरमसीमा तक पहुँच कर किसी सत्य अथवा असत्य का प्रतिपादन करना होता है। वातावरण प्रस्तुत करने के लिए इस प्रकार किसी ध्वनि विशेष वाले पात्र की आवश्यकता नहीं होती। संगीत (वाद्य) का माध्यम ऐसे स्थलों पर लिया जाता है। नाटककार इसमें किसी भी तरह अपने आपको दर्शक की भाँति नहीं रख सकता। जिस विशेष समस्या का उद्घाटन करना उसका ध्येय होता है, उस समस्या की सत्यता पर बल देते हुए उसे अत्यधिक न्याय-संगत ढंग से स्पष्ट भी करना पड़ता है।

रूपक(रेडियो फीचर्स)—ध्वनि-नाटकों में रूपक का दूसरा स्थान आता है। इसमें एक अन्य पात्र, प्रवक्ता, (नरेटर) होता है जो वातावरण, कथावस्तु तथा सूत्र का परिचय श्रोता को कराता है। प्रमुखतः घटनाओं तथा परिस्थितियों को स्पष्ट करने के लिए अभिनय अथवा वार्तालाप का आधार लिया जाता है। नाटक में पात्रों के माध्यम से ही कथावस्तु का आरम्भ होता है परन्तु रूपक में पात्रों का परिचय मात्र मिलता है। इसमें प्रवक्ता ही प्रमुख ध्वनि होता है।

संगीत-रूपक—जिस ध्वनि-नाटक में वार्तालाप का माध्यम गीत हुआ करता है तथा वातावरण का विवेचन अभिनय, नृत्य तथा संगीत से किया जाता है, उसे संगीत-रूपक कहते हैं। इसमें प्रवक्ता तथा पात्र दोनों ही वर्णनात्मक ढंग से संगीतों का प्रयोग करते हैं। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि किसी कथन का अभिनय और संगीत के माध्यम से विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। सम्पूर्ण ध्वनि-रूपक का समन्वित प्रभाव जो श्रोता के मस्तिष्क पर पड़ता है, वह रूपक का प्रभाव नहीं होता है, वरन् वह रूपक के प्रभाव की अपेक्षा संगीत का प्रभाव अधिक होता है।

प्रहसन—व्यंग, विनोद, हास्य अथवा परिहास प्रस्तुत करने के लिए जब जीवन की हलकी आलोचना प्रस्तुत की जाती है तब वह ध्वनि-नाटक प्रहसन कहा जाता है। प्रहसन ध्वनि-नाटक की विशेषता यह होती है कि भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुकूल इसका अन्त सर्वदा सुखमय होता है।

संवाद—जब किसी घटना की अभिव्यक्ति दो या दो से अधिक पात्रों के वार्तालाप द्वारा प्रस्तुत की जाती है तब संवाद ध्वनि नाटक होता है।

अन्तर्द्दश्य—भिन्न-भिन्न प्रकार की समस्याओं को आधार मानते हुए अलग-अलग अभिनय दृश्यों को प्रस्तुत करना अन्तर्द्दश्य कहलाता है इसमें एक विशेष व्यवस्थित गोष्ठी की आवश्यकता होती है। जब एक समस्या का अभिनय दृश्य समाप्त हो जाता है तब गोष्ठी के सभी सदस्यों द्वारा व्यंग, हास्य तथा विनोद का विधान नाटककार को करना चाहिए।

प्रकरी—जहां किसी कौतूहलजनक घटना को प्रस्तुत करने के लिए मनोरंजक अभिनय का आधार लिया जाता है, तब वह प्रकरी ध्वनि नाटक कहा जाता है।

अन्तर्ध्वनि—जब किसी विशेष घटना को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की कण्ठ-ध्वनि से विस्तार दिया जाता है तब अन्तर्ध्वनि नामक ध्वनि नाटक होता है। यहां वर्णनात्मक प्रधान होती है।

प्रस्थापक—किसी व्यवस्थित कथावस्तु को प्रस्तुत करते समय बीच-बीच में उदाहरणों की आवश्यकता पड़ जाती है और ऐसे स्थलों पर भिन्न व्यक्तियों द्वारा संगीत का विधान किया जाता है। इसे प्रस्थापक कहते हैं।

इतिवृत्त—किसी सत्य के उद्घाटन को मनोरंजक रखना तथा स्मरण में आत्म-कथा का श्रेय देना इतिवृत्त का कलापक्ष है और इसका ही अभिनयात्मक चित्रण इतिवृत्त कहलाता है।

जिन साहित्यकारों ने अपना साहित्यिक जीवन नाटककार के रूप में प्रारम्भ किया था, उन सभी को किसी न किसी समस्या के कारण रेडियो के लिए लिखना अनिवार्य हो गया है। आज का नाटककार पाठक के लिए नहीं, दर्शक के लिए नहीं, वरन् मशीन और श्रोताओं के लिए लिख रहा है, प्रारम्भिक नाटक के शास्त्रीय स्वरूप से आज के ध्वनि-नाटक के रूप में जमीन-आसमान का अन्तर आ गया है। डा० रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर, सेठ गोविन्ददास, डा० लक्ष्मीनारायण लाल,

सत्येन्द्र शरत्, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, देवराज दिनेश, हरिकृष्ण प्रेमी, ओंकारनाथ 'दिनकर' आदि सभी ने इस ओर प्रयास किया है पर सफलता कितनों को मिली है, इसके विषय में प्रश्नवाचक चिह्न के साथ उत्तर प्रस्तुत किया जा रहा है। डा० वर्मा तथा उदयशंकर भट्ट के एकांकी प्रायः रंगमंच के अनुकूल होते हैं। हम उन्हें खींचा-तानी के साथ रेडियो पर सुनते हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक पूर्णतः समस्यात्मक हैं और रेडियो के लिए अधिक उपयुक्त नहीं प्रमाणित हो पाये हैं। डा० लक्ष्मीनारायण लाल के ध्वनि-नाटक अवश्यमेव रेडियो शिल्पकला तथा उपयुक्त विषय प्रस्तुत करते हैं। इस क्षेत्र में नाटक साहित्य की अपेक्षा अधिक हास्यरस के ध्वनि-नाटक सामने आये हैं। कम से कम रेडियो से, मशीन के युग में, हिन्दी नाटक साहित्य की यह कमी पूरी हुई है। यद्यपि इस क्षेत्र में मौलिक लेखकों की कमी अब भी अखरती है तथा विषय प्रतिपादन प्रणाली अपेक्षाकृत हास्यास्पद प्रतीत होती हैं फिर भी इस क्षेत्र के सफल लेखकों में श्री गंगाधर शुक्ल, चिरंजीत, श्री राजाराम शास्त्री के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। गंगाधर शुक्ल का "सुबह होती है, शाम होती है" समाज और पारिवारिक जीवन पर एक सफल व्यंग कहा जा सकता है। यद्यपि पारिवारिक दैनिक जीवन को लेकर शुक्ल जी ने हमारे जीवन की समस्याओं का उद्घाटन किया है पर इतना कहा जा सकता है कि आज कलाकार का उत्तरदायित्व प्रश्न और समस्या को रखकर दूर भागने की बात नहीं रह गयी है, फोड़े की चीड़-फाड़ करने के साथ ही उसकी मरहम-पट्टी करना भी आवश्यक है। शुक्ल जी के इन संकेतों में उसकी कमी महसूस होती है।

ध्वनि-नाटक साहित्य की उच्चता एवं स्तर के विषय में निस्सन्देह कहा जा सकता है कि 'मेड टु आर्डर्स्' के कारण उनका कोई साहित्यिक स्तर स्थिर नहीं किया जा सकता। कुछ नाटक अवश्य ही अपना साहित्यिक मूल्य भी रखते है पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी है।

आज का हमारा नाट्य-साहित्य यहाँ तक आ चुका है कि बड़े-बड़े

नाटक अब श्वांस ले रहे हैं। एकांकी का बालक नवीन गति से मचल रहा है। मशीन-युग में चल-चित्रों का माध्यम—नाटक और एकांकी—दोनों को मिला है, पर आज रेडियो ने एकांकी के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया है। संगीत के प्रसाधन से इसे और भी बल मिल गया है। आज जिन परिस्थितियों से होकर एकांकी गुजर रहा है, उसका भविष्य उज्ज्वल और आशाजनक प्रतीत होता है।

डा० रामकुमार वर्मा

हिन्दी के नाटककारों में, विशेषतः एकांकी नाटककारों में डा० रामकुमार वर्मा का स्थान अग्रगण्य है । यद्यपि डा० वर्मा ने अपनी कविताओं के साथ साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया है फिर भी एकांकी का नाम आते ही, उसके सूत्रपात करने वालों में उनका नाम लिया जाता है । एकांकी कला तथा उसके स्वरूप—दोनों ही क्षेत्रों में डा० वर्मा ने विचारक की भाँति प्रयोग किये हैं और एकांकीकारों का मार्ग-प्रदर्शन किया है । वस्तुतः आपने हिन्दी-साहित्य को एकांकी की नवीन शिल्पमयी विधा ही नहीं दी है वरन् विचारधारा की दृष्टि से भी नवीनता प्रतिपादित की है ।

डा० वर्मा को विगत साहित्यिक-युग ने एक ऐसी पृष्ठभूमि दी थी जिस पर रास्ता बनाना तो आसान था, अपनी कलात्मकता और विचारधारा को प्रयोग के माध्यम से खरा उतारना अवश्यमेव कठिन था । नाटक-क्षेत्र में 'प्रसाद' जी ने इतिहास-गत सत्य को अपनाया था और खोज तथा तथ्यगत अन्वेषण का सम्बल लेकर भावाभिव्यक्ति के लिए सीमाएँ बना दी थीं । उनके पश्चात् आने वाले नाटककारों के लिए रास्ता साफ दिखाई देने पर भी उन्हें बहुत संभल कर कदम उठाने थे । डा० वर्मा ने समय की इस माँग को भली-भाँति पहचाना और इसी कारण समसामयिक सत्यों की उपेक्षा करना सम्भवतः उनसे सम्भव नहीं हो सका है ।

पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन और उसके एकांकी का स्वरूप भी डा० वर्मा के लिए बड़ा ही स्पष्ट हो गया था । रूढ़िग्रस्त सामाजिकता के प्रति सुलगने वाले विद्रोह ने भावनाप्रधान डा० वर्मा के हृदय को अपनी ओर खींच लिया है । फलतः समाज और इतिहास की कोमल ओर ही डा० वर्मा के एकांकी नाटकों की भाव-भूमि बन सकी है ।

डा० वर्मा के एकांकियों की सब से बड़ी विशेषता है 'पात्रगत मनोविज्ञान'। अन्तर्द्वन्द्व और परिस्थितिगत मनोविज्ञान के सफल चित्रण में जितनी सफलता इन्हें मिली है; सम्भवतः किसी अन्य नाटककार को नहीं। यही कारण है कि इनके पात्र, प्रेमचन्द के पात्रों की भाँति, हमारे अपने मालूम होते हैं, जीते-जागते नजर आते हैं और ऐसा मालूम होता है कि पात्र अपने आप ही हमारी सहानुभूति पर हावी हो रहा है।

प्रसाद तथा उनके सहयोगी नाटककारों के विषय में यह आक्षेप लगाया जाता है कि उनके नाटक रंगमंच के योग्य नहीं ठहरते। यह सही है कि न तो उस समय रंगमंच का कोई स्वरूप था, न संस्कृत रंगमंच की कोई उपयोगिता रह गयी थी और प्रसाद जी ने इन नाटकों को रंगमंच के लिए न तो लिखा ही था। रंगमंच की पुकार उसके बाद की देन है। डा० वर्मा तथा अन्य सहयोगी नाटककारों का यह उत्तरदायित्व था कि इस ओर प्रयत्न करते। प्रसन्नता की बात है कि डा० वर्मा के एकांकी नाटक हिन्दी नाटकों की इस कमी को पूरा करने की दिशा में सफल प्रयोग हैं। इनके नाटकों की भाषा, भाव, शैली, मनोविज्ञान तथा चरित्र-चित्रण पाठक और दर्शक दोनों को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है—इसमें दो मत नहीं हो सकते। 'संकलनत्रय' को डा० वर्मा ने अपनी नाटक-कला में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है और इसके विषय में ऋतुराज संकलन में स्पष्ट भी कर दिया है कि "मेरी दृष्टि में संकलनत्रय का महत्वपूर्ण स्थान है। एक सम्पूर्ण कार्य एक स्थान या एक ही समय में हो जाना मैं एकांकी के लिए आवश्यक समझता हूँ।"

अभी तक डा० वर्मा के कई एक एकांकी संग्रह प्रकाश में आये हैं जिसमें चारुमित्रा, रेशमी टाई, ऋतुराज, रजतरश्मि, सप्तकिरण विभूति ध्रुवतारिका, दीपदान, कामकन्दला, रिमझिम, कौमदी-महोत्सव आदि का नाम लिया जा सकता है।

समुद्रगुप्त पराक्रमांक

[भांडागार का बाहरी कक्ष। दिवालों पर अनेक नृत्य मुद्राओं में नर्तकियों के चित्र हैं। स्फटिक पत्थरों के स्तम्भों पर दीपों का आलोक हो रहा है। पीछे लोह-दण्डों से बना हुआ परिवेष्ठण है।

मंच के बीच में समुद्रगुप्त खड़े हुए हैं। शरीर पर श्वेत और पीत परिधान। रत्न-जटित शिरोभूषण, केश उन्मुक्त, पुष्ट वक्षस्थल जिस पर रत्नों के हार। कटिबन्ध में खड्ग। उनकी मुद्रा गंभीर है।

उनके दाहिनी ओर सिंहल के राजदूत धवलकीर्ति और राज्य के महाबलाध्यक्ष कोदण्ड हैं और बाईं ओर भांडागार के अधिकरण मणिभद्र हैं। धवलकीर्ति का पीत, मणिभद्र का श्वेत और कोदण्ड का नील परिधान है। कोदण्ड सैनिक वेश में है। द्वार पर शस्त्र लिए हुए प्रहरी। समुद्रगुप्त धवलकीर्ति को सम्बोधन करते हुए कहते हैं।]

समुद्रगुप्त—तो अब यह निश्चय है कि भांडागार में वे रत्न नहीं हैं?

धवलकीर्ति—यह तो आपने स्वयं देखा, सम्राट्! किन्तु भांडागार से इस तरह चोरी हो जाना आश्चर्यजनक है। भांडागार के अधिकरण मणिभद्र स्वयं कुछ नहीं कह सकते।

समुद्रगुप्त—(तीव्र स्वर से) क्यों नहीं कह सकते? (मणिभद्र से) मणिभद्र, वे रत्न कैसे चोरी चले गये? आज तुम्हारा वह विश्वास कहाँ है जिसमें दो युगों से पाटलिपुत्र की मर्यादा पोषित होती आ रही थी? वह विश्वास कहाँ है जिसमें मैंने तुम्हें कोशल, कांची और देवराष्ट्र की सम्पत्ति सौंपी थी? वह विश्वास कहाँ है जिसमें लिच्छवि-वंश का गौरव विकास करता रहा है? क्या उस विश्वास में विष प्रवेश कर गया? बड़ी से बड़ी सम्पत्ति की रक्षा करने का अनुभव लेकर भी तुम दो हीरक-

रत्नों की रक्षा नहीं कर सके ? तुमने मेरे विश्वास में इन रत्नों की हिफाज़त की जिम्मेदारियों के साथ समझा थी । तुम्हारे ये श्रम-बिन्दु अब रक्त-बिन्दु बन जायें......' (क्रूर दृष्टि से)

मणिभद्र—सम्राट् ! (श्वास) ऐसा यदि होता अनेक रोम से रक्त-बिन्दु निकल कर आपके चरणों पर गिर पड़ें, जिससे कि मैं निर्दोष हूँ । यदि रक्त-बिन्दु पानी-नदी हैं तो आप उन्हें दूसरी आज्ञा दीजिए किन्तु आपके विश्वास की पवित्रता खोकर मैं जीवन की रक्षा नहीं चाहूँगा ।

धवलकीर्ति—सम्राट् ! आपका विश्वास खोकर कौन अपने जीवन की रक्षा करना चाहेगा किन्तु मणिभद्र की संरक्षा से रत्नों का खो जाना आश्चर्यजनक है ।

मणिभद्र—यह आश्चर्य ही मुझे मृत्यु-पीड़ा का दर्शन है । सम्राट् ने जिस विश्वास से मुझे अन्तर्भवन कक्ष की संचित निधि सौंपी थी उसी विश्वास की पवित्रता से मैंने उन रत्नों की रक्षा की थी फिर भी प्रातःकाल वे राज-भांडागार में नहीं पाये गये ।

समुद्रगुप्त—भांडागार के एक-मात्र अधिकारी तुम्हीं हो मणिभद्र, फिर तुम्हारी आज्ञा के बिना वहाँ कोई प्रवेश ही कैसे कर सकता है ?

धवलकीर्ति—यही तो आश्चर्य है सम्राट् !

समुद्रगुप्त—आश्चर्य से अपराध नहीं छिपाया जा सकता, धवलकीर्ति ! अपराध की सहस्र जिह्वाएँ हैं जो अग्नि-शिखा की भाँति चंचल हो सकती हैं और (मणिभद्र से) तुम यह जानते हो मणिभद्र कि भांडागार की रक्षा क्या है ? [वह कृपाण के दर्पण में बन्द की हुई छाया है, कृपाण से मुक्त नहीं की जा सकती ।]

मणिभद्र—सम्राट् ! मैं अपनी मृत्यु हाथ में लेकर आया हूँ । रत्नों का खो जाना ही मेरे लिए सबसे बड़ा अपराध है । मुझे केवल अपने भाग्य-दोष का दुःख है । यश और कीर्ति के साथ सम्राट् की सेवा पच्चीस वर्षों तक करने के अनन्तर इस भाँति अपयश से मेरे जीवन का अन्त हो । मैं आपसे अपनी मृत्यु माँगने आया हूँ, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—मुझ से अपनी मृत्यु माँगने की भी आवश्यकता है ?

मणिभद्र—सत्य है, सम्राट् ! मैं अभी तक अपने जीवन की समाप्ति कर चुका होता किन्तु आपके समक्ष अपनी आत्मा की पवित्रता के दो शब्द कहे बिना मुझे परितोष न होता। आप मेरे चरित्र के सम्बन्ध में अनेक बातें सोच सकते थे। अब मुझे सन्तोष है, मैंने अपनी आत्मा की पुकार आप तक पहुँचा दी। अब मुझे आज्ञा दीजिये।

समुद्रगुप्त—मणिभद्र, अभी तुम नहीं जा सकोगे। तुम्हारे उत्तर-दायित्व के साथ राज्य का भी उत्तरदायित्व है। यदि तुम्हारे अधिकार में सुरक्षित की गयी अश्वमेध यज्ञ की सारी सम्पत्ति भी नष्ट हो जाती तो मुझे इतना दुःख न होता जितना इन दो रत्न-खण्डों की चोरी से हुआ है। इन रत्नों के साथ जैसे मेरे हृदय की सारी शान्ति और पवित्रता भी खो गई है।

धवलकीर्ति—सम्राट्, उन रत्नों का सम्बन्ध भी पवित्रता से ही था। वे सिंहल की राजमहिषी के कण्ठहार के प्रधान रत्न थे जो भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के लिए विश्वास से आपकी सेवा में भेजे गये थे।

समुद्रगुप्त—(आश्चर्य से) राजमहिषी के कण्ठहार से।

धवलकीर्ति—हाँ, सम्राट् ! मैं ही राजदूत बनकर सिंहल से यह सम्पत्ति लाया हूँ। जब सिंहल के महासामन्त सिरिमेघवर्ण ने एक लक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ बोधगया में एक विशाल मठ बनवाने और भगवान् बुद्धदेव की रत्न-जड़ित स्वर्ण-प्रतिमा निर्माण करने के निमित्त स्वर्ण-पात्रों में सुसज्जित कीं तब राजमहिषी कुमारिला के नेत्रों में श्रद्धा और प्रेम के आँसू छलक आये। उन्होंने उसी समय महासामन्त से प्रार्थना की कि उनके कण्ठहार के दो प्रधान हीरक-खण्ड श्रीमान् की सेवा में इस अनु-रोध के साथ भेज दिये जायँ कि वे हीरक-खण्ड भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के अंगुष्ठ नखों के स्थान पर विजड़ित हों। सम्राट् ! वे दोनों हीरक जैसे राजमहिषी कुमारिला की श्रद्धा और प्रेम के दो पवित्र अश्रु-बिन्दु थे, जो आज खो गये। इन अश्रु-बिन्दुओं के खो जाने से भगवान् के चरणों पर राजमहिषी की श्रद्धांजलि न चढ़ सकेगी। प्रतिमा अपूर्ण रहेगी, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—(आवेग से) तब सुनो, धवलकीर्ति, तुम सिंहल के राजदूत हो। मेरे महासामन्त की भेंट लाने वाले। तुम्हारे सामने मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि सम्राट् समुद्रगुप्त यदि उन रत्न-खण्डों को नहीं खोज सका तो वह अपने राज्याधिकार का ध्यान छोड़कर भगवान् बुद्ध-देव की प्रतिमा के सामने कठोर प्रायश्चित करेगा।

मणिभद्र—सम्राट्........

धवलकीर्ति—सम्राट्........

समुद्रगुप्त—रुको राजदूत, यह प्रतिज्ञा समस्त साम्राज्य के भाग्य-निर्णय के साथ घोषित की जा रही है। यह बुद्धदेव के प्रति मेरे अपराध का दण्ड है। राजमहिषी के विश्वास की रक्षा न कर सकने वाले का प्रायश्चित है। मेरी घोषणा प्रचारित हो और इसके साथ मेरे भांडागार के अविकरण का कलंक भी अमर हो। (मणिभद्र की ओर दृष्टि) वह किस रूप में हो, इसका निर्णय अभी होगा।

मणिभद्र—सम्राट् ! आपके इन शब्दों में मेरी मृत्यु भी मेरा उप-हास कर रही है। जीवन का एक-एक क्षण मुझे शूल की भाँति चुभ रहा है। मैं आपकी सेवा से जाने की आज्ञा चाहता हूँ जिससे मैं अपने इस कलंकित जीवन को अधिक कलंकित न कर सकूं।

समुद्रगुप्त—ठहरो मणिभद्र, मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति में तुम्हारी सहायता अपेक्षित होगी। तुम्हारी आत्म-हत्या से मेरा कलंक मिटेगा नहीं। मुझे कुछ बातों के जानने की आवश्यकता है।

धवलकीर्ति—सम्राट् ! यदि एकान्त की आवश्यकता हो तो मुझे आज्ञा दीजिए।

समुद्रगुप्त—नहीं धवलकीर्ति, ठहरो, तुम्हारे ही संरक्षण में यह भेंट और प्रतिमा निर्मित हुई है, तुम्हारी उपस्थिति भी आवश्यक है। मुझे विश्वास है, तुम अपने संकेतों से मेरे प्रयत्न में सहायता पहुँचाओगे। (मणिभद्र से) विश्वासपात्र मणिभद्र, वे रत्न-खण्ड सर्वप्रथम तुम्हारे अधिकार में कब आये ?

मणिभद्र—सम्राट्, आज से दस दिन पूर्व।

समुद्रगुप्त—फिर तुमने उन्हें कहाँ सुरक्षित किया ?

मणिभद्र—इसी कक्ष में, सम्राट् ।

समुद्रगुप्त—अन्तरंग प्रकोष्ठ में क्यों नहीं ?

मणिभद्र—मुझे धवलकीर्ति से यह सूचना मिली थी कि मठ और प्रतिमा का कार्य सम्पूर्ण हो गया है और अब वे शीघ्र ही शिल्पियों को दे दिये जावेंगे, अतः उन्हें अन्तरंग प्रकोष्ठ में रखने की आवश्यकता नहीं है ।

धवलकीर्ति—महासामन्त से मुझे यही आज्ञा मिली थी कि मैं शीघ्रातिशीघ्र मठ और प्रतिमा के निर्माण और उनकी व्यवस्था की चेष्टा करूँ । सिंहलद्वीप के भिक्षुओं को बोधगया में बड़ा कष्ट होता है, इसलिए उनकी सुविधा के लिए शीघ्रातिशीघ्र मठ का निर्माण होना था । सम्राट् ! आपकी प्रशंसा नहीं की जा सकती कि आपने भागवत धर्म में विश्वास रखते हुए भी बोधगया में भिक्षुओं के लिए मठ बनवाने की आज्ञा दे दी ।

समुद्रगुप्त—यह मेरी प्रशंसा का अवसर नहीं है, धवलकीर्ति ! तो मठ और प्रतिमा की शीघ्र व्यवस्था करने की प्रेरणा से ही तुमने मणिभद्र को अन्तरंग प्रकोष्ठ में रत्न रखने से रोक दिया ?

धवलकीर्ति—हाँ, सम्राट् ! शिल्पी प्रतिमा-निर्माण का कार्य समाप्त कर चुके थे । दो-एक दिन में ही भगवान् बुद्धदेव के चरणों में वे रत्न विजड़ित कर दिये जाते ।

समुद्रगुप्त—दो-एक दिन का प्रश्न नहीं था । प्रश्न मणिभद्र के उत्तरदायित्व और संरक्षण का था । फिर वे रत्न शिल्पियों को दूसरे दिन दे दिये गये ?

मणिभद्र—नहीं सम्राट् ! वे रत्न शिल्पियों को नहीं दिये जा सके । शिल्पियों को केवल पूर्व निश्चय के अनुसार चार सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ दी गयी थीं ।

समुद्रगुप्त—क्यों ?

मणिभद्र—उनका पारिश्रमिक चार सहस्र मुद्राएँ निश्चित किया गया था ।

समुद्रगुप्त—तो कार्य समाप्ति के पूर्व ही उन्हें पारिश्रमिक क्यों दिया गया ?

मणिभद्र—धवलकीर्ति का आदेश था।

समुद्रगुप्त—(धवलकीर्ति से) क्यों धवलकीर्ति, तुम्हारा यह निर्देश सत्य है ?

धवलकीर्ति—सत्य है सम्राट् ! मैं उन शिल्पियों के कार्य से बहुत प्रसन्न था। वे अत्यन्त सात्विक प्रवृत्ति वाले हैं, मुझे विश्वास था कि पुरस्कार पाने के उपरान्त भी रत्न जड़ने का कार्य पूर्ण करेंगे।

समुद्रगुप्त—ऐसे कितने शिल्पी हैं ?

धवलकीर्ति—केवल दो हैं, सम्राट्।

समुद्रगुप्त—उनके नाम ?

धवलकीर्ति—घटोत्कच और वीरबाहु।

समुद्रगुप्त—इस समय वे कहाँ हैं ?

धवलकीर्ति—वे अपने आवास स्थान पर ही होंगे।

कोदण्ड—नहीं सम्राट् ! वे इस समय बंधन में हैं। जब से रत्नों की चोरी का समाचार प्रसिद्ध हुआ है तब से मैंने उन शिल्पियों को बन्दी कर रखा है। मैं उन्हें मणिभद्र के साथ ही ले आया था। वे बाहर हैं। यदि आज्ञा हो तो उन्हें सम्राट् की सेवा में उपस्थित करूँ।

समुद्रगुप्त—मैं तुम्हारी सतर्कता से प्रसन्न हूँ महाबलाध्यक्ष ! यद्यपि मैं जानता हूँ कि शिल्पी निर्दोषी है फिर भी मैं उनसे विचार-विनिमय करना चाहूँगा। उन्हें मेरे समक्ष शीघ्र उपस्थित करो।

कोदण्ड—(सिर झुकाकर) जो आज्ञा ! (प्रस्थान)

समुद्रगुप्त—तो धवलकीर्ति, तुम शिल्पियों के कार्य से बहुत प्रसन्न हो ?

धवलकीर्ति—हाँ सम्राट्, उन्होंने केवल एक मास में भगवान की प्रतिमा का निर्माण कर दिया।

समुद्रगुप्त—उनके निर्माण कार्य की कुछ विशेषता ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, भगवान् की प्रतिमा इतनी सजीव ज्ञात होती है मानों वे संघ को उपदेश देने के अनन्तर अभी ही मौन हुए हैं।

उनकी प्रतिमा का ओज अन्य धर्मावलम्बियों को भी बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित करने में समर्थ है।

समुद्रगुप्त—और बोधगया का मठ पूर्ण हो गया ?

धवलकीर्ति—हाँ सम्राट्, मठ भी पूर्ण हो गया। एक सहस्र भिक्षुओं के निवास के योग्य उसमें प्रबन्ध है और उसमें कला-कुशलता की चरम-सीमा उपस्थित की गयी है।

समुद्रगुप्त—कला-कुशलता की सीमा से क्या तात्पर्य है ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, बुद्धदेव के जीवन के समस्त चित्र दीवालों पर अंकित हैं। महामाया का स्वप्न, गौतम का जन्म, शाक्य-नरेश का सुखोत्सव, वैराग्य उत्पन्न करने वाले रोग, जरा और मृत्यु के चित्र, भगवान् गौतम का महाभिनिष्क्रमण, फिर उनकी तपस्या एवं उनके बोधिसत्व का रूप। संघ को उपदेश देते हुए उनके चित्रों में महान् ऐश्वर्य और विभूति है।

समुद्रगुप्त—और भिक्षुओं की सुविधा का क्या प्रबन्ध है ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, प्रवज्या की समस्त सामग्री प्रत्येक कक्ष में संचित है। चीवर आदि की व्यवस्था देश के अन्य मठों से इसमें विशेष रहेगी। संक्षेप में, अब किसी भी भिक्षु को लौकिक एवं पारलौकिक दृष्टि से किसी प्रकार की भी असुविधा नहीं हो सकती।

समुद्रगुप्त—तब तो मठ के समस्त शिल्पियों को राज्य की ओर से भी पुरस्कार प्रदान किया जायेगा, घटोत्कच और वीरबाहु को तो विशेष रूप से। धवलकीर्ति, पाटलिपुत्र में इन दोनों शिल्पियों को आवास कहाँ दिया गया था ?

धवलकीर्ति—जिस अतिथिशाला में मैं हूँ उसी के समीप राय-कुटीर में।

समुद्रगुप्त—तुमने रत्न-खण्डों के सम्बन्ध में उनसे कभी चर्चा की थी ?

धवलकीर्ति—भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के समाप्त होने के कुछ पहले ही मैंने भगवान् के चरण अंगुष्ठ में स्थान छोड़ने की आज्ञा देते समय उनसे इन रत्नों की चर्चा की थी किन्तु उनसे अधिक वार्तालाप

कर अपना समय नष्ट करना मैंने कभी उचित नहीं समझा। आवश्यक आदेशों के अतिरिक्त मैंने उनसे कभी कोई बात ही नहीं की।

समुद्रगुप्त—तुम सिंहल के प्रमुख कलाविद् हो। फिर कलाकारों से वार्तालाप करना समय नष्ट करना नहीं है, धवलकीर्ति!

धवलकीर्ति—सम्राट्, आप जैसे उत्कृष्ट कलाकार से वार्तालाप करना सौभाग्य की बात है, किन्तु सभी कलाकार मेरे समय के अधिकारी नहीं हैं।

समुद्रगुप्त—तुम भूल करते हो, धवलकीर्ति। प्रत्येक कलाकार में कुछ न कुछ मौलिकता अवश्य होती है। कलाविद् को चाहिए कि कलाकार की उस मौलिकता का वह रत्नों की भाँति संग्रह करे।

(महाबलाध्यक्ष कोदण्ड का प्रवेश)

कोदण्ड—(प्रणाम कर) सम्राट्! दोनों शिल्पी यहाँ उपस्थित हैं। आज्ञा हो तो उन्हें भीतर लाऊँ।

समुद्रगुप्त—यहाँ उपस्थित करो।

(महाबलाध्यक्ष का प्रस्थान)

समुद्रगुप्त—धवलकीर्ति, ये दोनों शिल्पी क्या सिंहल के निवासी हैं?

धवलकीर्ति—हाँ, सम्राट्। इनका आदि-स्थान तो सिंहल ही है किन्तु अपनी कला-प्रियता के कारण ये समस्त देशों का पर्यटन करते हैं।

(महाबलाध्यक्ष कोदण्ड के साथ घटोत्कच और वीरबाहु का प्रवेश। वे प्रणाम करते हैं।)

कोदण्ड—(संकेत करते हुए) सम्राट्, यह शिल्पी घटोत्कच है और यह वीरबाहु।

समुद्रगुप्त—घटोत्कच और वीरबाहु, सिंहल के शिल्पी, किन्तु समस्त देश के अभिमान, राज्य में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने वाले, प्रस्तर में प्राण फूंकने वाले। तुम लोगों से राज्य की शोभा है। इसीलिए ये किसी भी दण्ड-विधान से दण्डित नहीं हो सकते। क्यों शिल्पी, सौन्दर्य किसे कहते हैं?

घटोत्कच—सम्राट्? विषम वस्तु में समता लाना ही सौन्दर्य है।

समुद्रगुप्त—और तुम क्या समझते हो, वीरबाहु?

वीरबाहु—हृदय में अनुराग की सृष्टि का साधन ही सुन्दरता है।

समुद्रगुप्त—यदि चोरी के प्रति हृदय में अनुराग है तो वह भी सुन्दरता है, शिल्पी।

वीरबाहु—सम्राट्, यदि चोरी सात्विक भावों से होती है तो वह सुन्दरता ही कही जा सकती है।

समुद्रगुप्त—सात्विक भावों से कौन सी चोरी होती है?

वीरबाहु—कला, कविता और नारी हृदय की सम्राट्, जिसमें निरीहता और पवित्रता है।

समुद्रगुप्त—और रत्न-खण्डों की चोरी शिल्पी?

वीरबाहु—वह सुन्दरता नहीं है सम्राट्, रत्न-खण्डों की चोरी में तृष्णा है, जिसका रूप दुःख है और फल पाप है।

समुद्रगुप्त—तुम्हें ज्ञात है कि सिंहल से भेजे गये रत्न-खण्ड चोरी चले गये?

वीरबाहु—सम्राट्, मुझे इसकी सूचना महाबलाध्यक्ष से ज्ञात हुई। यही कारण है कि प्रातःकाल से हम लोगों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध है। हमारी रक्षा कीजिये सम्राट्!

समुद्रगुप्त—तुम लोगों की पूर्ण रक्षा होगी शिल्पी, पहले मेरे प्रश्नों के उत्तर दो।

वीरबाहु—प्रश्न कीजिये सम्राट्!

समुद्रगुप्त—तुम्हें दो सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त हो चुकी हैं।

वीरबाहु—हाँ, सम्राट।

समुद्रगुप्त—और घटोत्कच, तुम भी पुरस्कृत हो चुके हो?

घटोत्कच—हाँ, सम्राट्।

समुद्रगुप्त—तुम लोग कार्य समाप्ति के पूर्व ही पुरस्कृत क्यों हुए?

घटोत्कच—धवलकीर्ति की प्रसन्नता ही इसका कारण है।

वीरबाहु—या हम लोगों की कार्य-कुशलता?

समुद्रगुप्त—क्या इस बात की सम्भावना हो सकती है कि उन दो सहस्र मुद्राओं में वे रत्न-खण्ड भी चले गये हों?

घटोत्कच—सम्राट्, यदि रत्न-खण्ड उन स्वर्ण-मुद्राओं में मिलते तो मैं मणिभद्र को इस बात की सूचना अवश्य देता।

वीरबाहु—सम्राट्, मेरा निवेदन तो यह है कि यदि मुझे तो स्वर्ण मुद्राओं में एक मुद्रा भी अधिक मिलती तो मैं वह मणिभद्र के पास भेज देता।

समुद्रगुप्त—इस बात का प्रमाण ?

घटोत्कच—सम्राट्, हृदय की निर्मलता का प्रमाण केवल निर्मल हृदय ही पा सकता है।

समुद्रगुप्त—क्यों शिल्पी, क्या तुम्हें मेरे हृदय की निर्मलता में विश्वास नहीं है ?

घटोत्कच—सम्राट्, हमें पूर्ण विश्वास है, इसीलिए आपसे निवेदन करना चाहते हैं, दूसरी बात यह है कि आज तक मैंने भगवान् बुद्धदेव की अनेक प्रतिमाओं का निर्माण किया है। भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा तथा उनके जीवन के अनेक चित्रों को अंकित करते-करते मेरे हृदय में—मेरी कला में—भी तथागत की प्रतिमा का निर्माण हो गया है। उनके आदर्श मेरी प्रत्येक श्वांस में निवास करते हैं। उनके 'आर्य सत्य' मेरी प्रत्येक गति और मति में संचालित हो गये हैं। ऐसी स्थिति में रत्न-खण्डों की प्रभा मेरे चरित्र को कलंकित नहीं कर सकती।

समुद्रगुप्त—वीरबाहु, तुम्हारा क्या कथन है ?

वीरबाहु—सम्राट्, जो रत्न-खण्ड भगवान् बुद्धदेव के चरणों में स्थान पाने के लिए भेजे गये थे वे रत्न-खण्ड निर्जीव हैं और हम लोगों के हृदय सजीव। निर्जीवों में इतनी शक्ति नहीं है कि वे सजीवों की प्रकृति में बाधा डाल सकें। यदि आवश्यकता होगी तो रत्न-खण्डों के स्थान पर हम लोग अपने हृदय भी विजड़ित करने के लिए प्रस्तुत होंगे।

समुद्रगुप्त—दोनों ही उच्चकोटि के कलाकार तथा शिल्पी हैं। घटोत्कच, बुद्धदेव की प्रतिमा का निर्माण हो गया ?

घटोत्कच—सम्राट् ! पिछले सप्ताह ही पूर्ण हो गया।

समुद्रगुप्त—फिर रत्न-खण्डों को प्राप्त करने में इतना विलम्ब क्यों हुआ ?

घटोत्कच—सम्राट् ! मैंने धवलकीर्ति से रत्न-खण्डों के शीघ्र पाने की याचना की थी, किन्तु उन्हें अवकाश नहीं था ।

समुद्रगुप्त—धवलकीर्ति को अवकाश नहीं था ! क्यों धवलकीर्ति ?

धवलकीर्ति—सम्राट्, मैं पाटलिपुत्र का उपासक हूँ । उसके सौंदर्य को देखने की इच्छा अनेक वर्षों से मेरे हृदय में थी । मैं यहाँ आकर उसे अधिक से अधिक देखने के अवसर प्राप्त करना चाहता था । अतः मैं प्रायः आपके नगर के उद्यानों और सरोवरों ही में अपने जीवन की अनुभूतियाँ प्राप्त करता था, किन्तु फिर भी शिल्पियों की आवश्यकता का ध्यान मुझे सदैव रहा करता था ।

घटोत्कच—किन्तु गत सन्ध्या को जब मैंने आपकी सेवा में आने की चेष्टा की तो मुझे ज्ञात हुआ कि पाटलिपुत्र में आकर नृत्य-दर्शन की ओर आपकी विशेष अभिरुचि हो गयी है, आप नृत्यों की विशेष भावभंगिमाओं के चित्र-संग्रह में इतने व्यस्त रहते है कि आपको मेरी प्रार्थनाओं के सुनने का अवकाश नहीं था ।

धवलकीर्ति—घटोत्कच, मेरी रुचि की समालोचना करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है ।

समुद्रगुप्त—शान्त, धवलकीर्ति, मुझे यह सुनकर प्रसन्नता है कि तुम्हें नृत्य-कला विशेष प्रिय है । तुमने पाटलिपुत्र की राजनर्तकी का नृत्य, सम्भव है, अभी तक न देखा हो । वह भी मैं तुम्हें दिखलाने का प्रयत्न करूँगा ।

धवलकीर्ति—सम्राट्, आपकी विशेष कृपा है ।

समुद्रगुप्त—मैं उसे अभी दिखलाने का प्रबन्ध करूँगा । मेरे नृत्य देखने का समय भी हो गया । (महाबलाध्यक्ष से) कोदण्ड, तुम इन शिल्पियों को न्याय-सभा की उत्तरशाला में स्थान दो । (शिल्पियों से) शिल्पी घटोत्कच और वीरबाहु, तुम्हारे उत्तरों से मैं प्रसन्न हुआ । राजकीय नियमों के आचरण में यदि शिल्प-साधकों को कुछ असुविधा हो तो वह उपेक्षणीय है । तुम ध्यान मत देना शिल्पी !

वीरबाहु—सम्राट् की जो आज्ञा ।

धवलकीर्ति—मुझे कोई असुविधा नहीं है, सम्राट् ।

समुद्रगुप्त—तो तुम भाग जाओ, राज-शिल्पियों को किसी प्रकार की असुविधा नहीं होनी चाहिए।

कोदण्ड—जो आज्ञा, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—और सुनो कोदण्ड, राजनर्तकी रत्नप्रभा को इसी स्थान पर आने की सूचना दो। आज मैं धवलकीर्ति के साथ इसी स्थान पर राजनर्तकी का नृत्य देखूंगा।

(कोदण्ड और शिल्पी जाने के लिए उद्यत होते हैं।)

समुद्रगुप्त—और सुनो, प्रियदर्शिका से कहना कि वह मेरी वीणा ले आवे। आज मैं फिर वीणा बजाना चाहता हूँ। देखना कि स्वरों का सन्धान हो।

कोदण्ड—जो आज्ञा।

(कोदण्ड और शिल्पियों का प्रस्थान)

समुद्रगुप्त—(मणिभद्र से) मणिभद्र दुर्भाग्य से यदि यह तुम्हारी अन्तिम रात्रि हो तो तुम्हें अपने सम्राट् की वीणा सुनने का अवसर क्यों न मिले? तुम भी सुनो।

मणिभद्र—यह मेरा सौभाग्य है, सम्राट्।

धवलकीर्ति—सम्राट् फिर मुझे आज्ञा दीजिए।

समुद्रगुप्त—क्यों धवलकीर्ति, क्या तुम हमारी वीणा नहीं सुनोगे और राजनर्तकी का नृत्य नहीं देखोगे? तुम तो बड़े भारी कलाकार हो।

धवलकीर्ति—सम्राट्! प्रशंसा के लिए धन्यवाद। मैं सोचता हूँ कि कला की उपासना के लिए पवित्र मन की आवश्यकता है। मेरा मन इस घटना से बहुत अव्यवस्थित हो गया है।

समुद्रगुप्त—मैं अपनी वाणी से तुम्हारा हृदय व्यवस्थित कर दूंगा। फिर आज इन वादन और नृत्य को तुम मणिभद्र की विजय विदा समझो। जिस मणिभद्र ने पच्चीस वर्षों तक राज्य की सेवा की है उसके अन्तिम क्षणों को मुझे अधिक से अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस मंगल-वेला के समय तुम्हें भी उपस्थित रहना चाहिए। पाटलिपुत्र के न्यायाचरण में सिंहल का भी प्रतिनिधित्व हो।

धवलकीर्ति—सम्राट्, आपका कथन सत्य है, किन्तु मैंने समझा, सम्भवतः आप एकान्त चाहते हैं।

समुद्रगुप्त—नहीं धवलकीर्ति, ऐसे समारोहों में एकान्त टूटे हुए तार की तरह कष्टदायक है।

धवलकीर्ति—(संभलकर) और सम्राट्, आपकी वीणा में वह स्वर है जो टूटे हुए हृदयों को भी जोड़ देता है। आप संगीत-कला में नारद और तुम्बरु को भी लज्जित करते हैं। आपकी संगीत-प्रियता इसी बात से स्पष्ट है कि आपकी मुद्राओं पर वीणा बजाती हुई राजमूर्ति अंकित है। मैंने सुना है कि आपने अपने अश्वमेध यज्ञ के उपरान्त दो मास तक संगीतोत्सव किया था।

समुद्रगुप्त—यह सरस्वती की साधना करने की सबसे सरल युक्ति है, अच्छा धवलकीर्ति तुम भी तो संगीत जानते हो?

धवलकीर्ति—सम्राट्, आपकी साधना की समानता कौन कर सकता है, किन्तु इस कला की ओर मेरी अभिरुचि अवश्य है।

समुद्रगुप्त—और नृत्य-कला भी तो जानते होगे?

धवलकीर्ति—सम्राट्, नृत्य-कला का मैंने अध्ययन-मात्र किया है उसकी विवेचना कर सकता हूँ, किन्तु स्वयं नृत्य नहीं कर सकता।

समुद्रगुप्त—नृत्य-कला देखने से प्रेम है?

धवलकीर्ति—यह सिंहल के वातावरण का प्रभाव है।

समुद्रगुप्त—मुझे प्रसन्नता है कि सिंहल का वातावरण मेरी अभिरुचि के अनुकूल है। फिर तो राजनर्तकी के नृत्य से तुम्हें विशेष प्रसन्नता होगी।

धवलकीर्ति—यह सम्राट् का अनुग्रह है।

समुद्रगुप्त—और मेरी वीणा के स्वर भी आज गुञ्जरित होंगे।

धवलकीर्ति—आपकी वीणा तो स्वर्गीय संगीत है, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—अधिक नहीं, धवलकीर्ति। किन्तु संगीत ईश्वरीय विभूति की वह किरण है जिससे मनुष्य देवता हो जाता है। हृदय का समस्त कालुष्य वीणा की एक झंकार में ही दूर हो जाता है।

(प्रियदर्शिका का वीणा लिए हुए प्रवेश। वह प्रणाम करती है।)

समुद्रगुप्त—आओ प्रियदर्शिके, आज मैं फिर वीणा बजाऊँगा ।

प्रियदर्शिका—(वीणा आगे प्रस्तुत कर) प्रस्तुत है सम्राट् !

समुद्रगुप्त—(वीणा हाथ में लेते हुए) केदारा के स्वरों में वीणा का सन्धान है ।

प्रियदर्शिका—हाँ सम्राट् ! इसी राग की आज्ञा प्राप्त हुई थी ।

समुद्रगुप्त—राजनर्तकी रत्नप्रभा का शृङ्गार पूर्ण हुआ ?

प्रियदर्शिका—वे तैयार हैं, आपकी सेवा में उपस्थित होने की आज्ञा चाहती हैं ।

समुद्रगुप्त—उन्हें नृत्य के साथ आने दो, केदारा स्वरों में ।

प्रियदर्शिका—(सिर झुकाकर) जो आज्ञा । (प्रस्थान)

समुद्रगुप्त—(वीणा के तारों पर उंगलियाँ फेरते हुए) सुनो धवनकीर्ति, केदारा के स्वर में यह भावना है कि करुणा की समस्त मूर्छनाएँ एक बार ही हृदय में जागृत हो जाती हैं । ऐसा ज्ञात होता है जैसे सारा संसार तरल होकर किसी की आँखों से आँसू बनकर निकलना चाहता है । तारिकाएँ आकाश की गोद में सिमिट कर पतली किरणों में प्रार्थना करने लगती हैं, कलिकाएँ सुगन्धि की वेदना से फूल बन जाती हैं और विन्दु में डूब कर पृथ्वी के चरणों में आत्म-समर्पण करना चाहती है । अच्छा, तो सुनो वह रागिनी ।

[समुद्रगुप्त वीणा पर केदारा का स्वर छेड़ते हैं । धीरे-धीरे बजाते हुए वे तन्मय हो जाते हैं । उसी क्षण रत्नप्रभा का नृत्य करते हुए प्रवेश । रत्नप्रभा के अंग-अंग से रागिनी की गति व्यक्त हो रही है । वह अठारह वर्षीया सुन्दरी है । सौन्दर्य की रेखाओं में ही उसके शरीर की आकृति है । केश-कलाप में पुष्पों की मालाएं, शरीर में अंगराग और चन्दन की चित्र-रेखाएँ हैं । मस्तक पर केसर का पुष्पांकन । बीच में कुंकुम का विन्दु । नेत्रकारों में अंजन की रेखा । चिबुक पर कस्तूरी-विन्दु । कण्ठ में मुक्ताहार । हृदय पर रत्न-राशि । कटि में दोलायमान किंकणी और पैरों में नुपूर । वह केदारा राग की साकार प्रतिमा बन कर नृत्य कर रही है । साथ ही सम्राट् समुद्रगुप्त की वीणा में निकलती हुई रागिनी राजनर्तकी के पद-विन्यास मे माधुर्य भर रही है । कुछ

समय नृत्य करने के उपरान्त 'सम' पर राजनर्तकी हाथ जोड़कर भाव-मुद्रा में सम्राट के समक्ष तिरछी होकर खड़ी हो जाती है।)

समुद्रगुप्त—(प्रसन्न होकर) मेरे राज्य की उर्वशी ! तुम बहुत सुन्दर नृत्य करती हो''यह पुरस्कार। (गले से मोती की माला उतार कर देते हैं।)

रत्नप्रभा—(हाथ जोड़कर) सम्राट ! मैं इसके योग्य नहीं हूँ। मुझ से आज दो बहुत बड़े अपराध हुए हैं।

समुद्रगुप्त—(भ्रान्त होकर) तुम से ? कभी कोई अपराध नहीं हुआ। कौनसा अपराध ?

रत्नप्रभा—पहला अपराध तो यह है कि मैं आपकी मधुर वीणा के अनुकूल नृत्य नहीं कर सकी। आपके संगीत की मर्यादा कभी भंग नहीं हुई। आज मेरे नृत्य के कारण आपका संगीत कलुषित हो गया, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—नहीं रत्नप्रभा, अपने नृत्य से तुमने मेरे स्वरों में सहायता ही पहुँचाई है, हानि नहीं।

रत्नप्रभा—सम्राट् मैं अनुगृहीत हूँ। आपने कभी मेरे नृत्य के साथ वीणा नहीं बजाई। आज आपने मेरे नृत्य को अनन्त गौरव प्रदान किया है।

समुद्रगुप्त—यह कला की साधना में आवश्यक है। अच्छा दूसरा अपराध कौनसा है ?

रत्नप्रभा—सम्राट् ! आज आपने इतनी मधुर वीणा बजाई कि संगीत की इस दिव्य अनुभूति में मेरे हृदय का समस्त दोष दूर हो गया और आज मैं अपना अपराध स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

समुद्रगुप्त—मैं उत्सुक हूँ सुनने के लिए, रत्नप्रभा।

रत्नप्रभा—सम्राट् ! राजनर्तकी होकर मैंने एक अन्य व्यक्ति से भेंट स्वीकार की।

समुद्रगुप्त—(उत्सुकता से) किससे ?

धवलकीर्ति—(शीघ्रता से) मुझसे सम्राट् ! सिंहल के राजदूत धवलकीर्ति से।

समुद्रगुप्त—तो इसमें कोई हानि नहीं। तुम तो हमारे राज्य के अतिथि हो। तुमसे भेंट स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

रत्नप्रभा—फिर भी सम्राट् अन्य राज्य के व्यक्ति की भेंट स्वीकार करने की आज्ञा मेरी आत्मा मुझे नहीं देती। इनकी यह भेंट आप ही के चरणों में समर्पित करती हूँ; और वह यह है।

(सम्राट् के चरणों में दो हीरक खण्ड समर्पित करती है)

मणिभद्र—(हीरक खण्डों को देखकर प्रसन्नता से) वे हीरक खण्ड यही हैं, यही है, (उद्वेग से) महाराज प्रायश्चित नहीं करेंगे, महाराज प्रायश्चित नहीं करेंगे।

समुद्रगुप्त—(रत्नों को हाथ में लेकर) ठहरो, ठहरो मणिभद्र, प्रसन्नता से पागल मत बनो। (धवलकीर्ति से) राजदूत धवलकीर्ति, क्या यह सत्य है ?

धवलकीर्ति—(लज्जा से सिर नीचा करके मौन है)

समुद्रगुप्त—बोलो राजदूत, क्या तुम इसी आचरण से राजदूतत्व का निर्वाह करते हो ?

धवलकीर्ति—सम्राट् ! मैं लज्जित हूँ।

समुद्रगुप्त—राजदूत, मुझे तुम पर पहले ही कुछ शंका हो रही थी। मणिभद्र की आत्म-हत्या के विचार पर तुम मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे, राजमहिषी कुमारिला के कण्ठहार के रत्नों की पवित्रता का सन्देह जतला कर तुम राज्याधिकार को लांछित करना चाहते थे, तुम इसीलिए शिल्पियों पर प्रसन्न हुए थे कि वे रत्न-खण्डों के लिए अधिक जिज्ञासा न करें, तुम रत्नप्रभा के नृत्य के पूर्व ही चले जाना चाहते थे जिससे तुम रत्नप्रभा के समक्ष दोषी होने से बच सको। मैंने इसीलिए आज वीणा बजाई जिससे संगीत के वातावरण में अपराधी विह्वल हो जाय और अपना रहस्य खोल दे। नहीं तो मर्यादा के संकट में संगीत की क्या आवश्यकता ? तुम मेरे ही राज्य में आकर विष का बीज बोना चाहते हो ? बोलो, तुम्हें क्या दण्ड दिया जाय ?

धवलकीर्ति—सम्राट् ! जो चाहें मुझे दण्ड दें।

समुद्रगुप्त—तुम जानते हो धवलकीर्ति, राजदूत दण्डित नहीं होता,

इसीलिए तुम निर्भीकता से कहते हो, सम्राट् जो चाहें मुझे दण्ड दें। किन्तु तुम यह ठीक तरह से समझते हो कि समुद्रगुप्त पराक्रमाङ्क न्याय को देवता मान कर पूजता है और अन्याय को दैत्य समझ कर उसका विनाश करता है। मैं अपने महासामन्त सिरिमेघवर्ण से तुम्हारे दण्ड की व्यवस्था कराऊँगा। तुमने राजमहिषी कुमारिला के रत्न-खण्डों को स्वयं कलुषित किया है, मणिभद्र के प्राण संकट में डाले हैं, राजनर्तकी को मर्यादा के पथ से विचलित करने का प्रयत्न किया है। दण्ड तुम्हें पाकर सुखी होगा।

धवलकीर्ति—सम्राट्! मुझे अधिक लज्जित न कीजिए। मैं स्वयं परिताप की अग्नि में जल रहा हूँ।

समुद्रगुप्त—उस परिताप की अग्नि के प्रकाश में क्या यह स्पष्ट कर सकते हो कि ये रत्न खण्ड तुमने मणिभद्र की संरक्षा से किस प्रकार मुक्त किये?

धवलकीर्ति—अपने अन्तिम समय में मैं असत्य भाषण नहीं करूँगा, सम्राट्! आपको अभी ज्ञात हुआ है कि शिल्पियों की कार्य-समाप्ति के पूर्व ही शिल्पियों को मैंने प्रसन्न हो निश्चित पारिश्रमिक दे दिया और वह इसलिए कि जब मेरे सामने मणिभद्र उन्हें देने के लिए स्वर्ण-मुद्राएँ गिने तो मैं मणिभद्र का ध्यान सिंहल की मुद्राओं की विशेषता की ओर बार-बार आकर्षित करूँ। ऐसे ही किसी अवसर पर मैं वे रत्न-खण्ड दृष्टि बचा कर मंजूषा में से निकाल लूं। अपने कार्य की सरलता के कारण ही मैंने उन रत्नों को भांडागार के भीतरी प्रकोष्ठ में न रखने का परामर्श मणिभद्र को दिया।

समुद्रगुप्त—फिर रत्नप्रभा को तुमने किस विचार से ये रत्न भेंट किये?

धवलकीर्ति—मैंने उससे नृत्य करने की प्रार्थना की किन्तु उसने कहा कि मैं सम्राट् की आज्ञा के बिना किसी दूसरे के समक्ष नृत्य नहीं करूँगी। मैंने बार-बार प्रार्थना की और उसकी सुन्दरता के अनुरूप ही हीरक-खण्डों की भेंट की। उसने मौन होकर वे रत्न-खण्ड ले लिये; न जाने क्या सोचकर और क्या समझ कर।

समुद्रगुप्त—फिर रत्नप्रभा ने तुम्हारे सामने नृत्य किया ?

धवलकीर्ति—नहीं सम्राट्, इसने फिर भी अस्वीकार किया।

समुद्रगुप्त—रत्नप्रभा, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। अब स्वीकार करो अपना यह पुरस्कार। (हाथ में रखी हुई माला देते हैं।)

रत्नप्रभा—(माला लेकर सिर झुकाकर) सम्राट्, आपकी प्रसन्नता में ही मेरे पुरस्कृत होने की सार्थकता है।

समुद्रगुप्त—मेरे साम्राज्य में इस प्रकार का अन्याय नहीं हो सकता, इसी बात से मैं सुखी हूँ।

धवलकीर्ति—सम्राट्! मुझे और किसी प्रश्न का उत्तर देना है ?

समुद्रगुप्त—नहीं, अब केवल महासामन्त को सूचना देनी है कि राजमहिषी के रत्न-खण्डों को भगवान् बुद्धदेव की श्रद्धा में समर्पित न कर राजनर्तकी को भेंट करने के अपराध में जो दण्ड-व्यवस्था हो उसका प्रबन्ध करें।

धवलकीर्ति—सम्राट्! आप उन्हें सूचना देने का कष्ट न उठाएँ। मैंने मणिभद्र के साथ विश्वासघात किया, राजमहिषी के हीरक-खण्डों को कलुषित किया, राजनर्तकी को मर्यादा से विचलित करने की चेष्टा की और सम्राट्, आपके प्रायश्चित करने का अवसर उपस्थित किया, इन सबका सम्मिलित दण्ड बहुत भयानक है। यदि मुझे सौ बार प्राण-दण्ड दिया जाय, तब भी वह पर्याप्त नहीं है। मैं अपनी ओर से सबसे बड़ा दण्ड स्वयं अपने को दे रहा हूँ और वह है आत्म-हत्या।

(कटार अपने हृदय में मार लेता है और सम्राट के
समक्ष ही गिर पड़ता है।)

(मणिभद्र और राजनर्तकी के मुख से आश्चर्य
और दुःख की ध्वनि।)

समुद्रगुप्त—स्वयं दण्डित होने से अब तुम अपराधों से मुक्त हुए धवलकीर्ति, तुमने अपने नाम को धवल ही रहने दिया।

धवलकीर्ति—(अस्फुट स्वरों में) मैं···राजमहिषी को···अपना मुख···नहीं दिखला सकता था···सम्राट् मेरी···कला की···उपासना ···असत्य है। मुझे···शान्ति से मरने···दें। आपका संगीत···।

समुद्रगुप्त—हाँ, धवलकीर्ति । मैं तुम्हें संगीत सुनाऊँगा । राजनर्तकी, तुम नृत्य करो, सच्चे अपराधी की मृत्यु को मंगलमय बनाओ । मणिभद्र के स्थान पर धवलकीर्ति को विजय-विदा दो । मैं भी वीणावादन करूँगा । शिल्पियों को मुक्त कर यहाँ आने का निमन्त्रण दो । आज धवलकीर्ति अपनी मृत्यु के समय मेरा मंगलवाद्य सुने । राजनर्तकी, नृत्य शीघ्र प्रारम्भ हो ।

(राजनर्तकी नृत्य करने के लिए प्रस्तुत होती है, और सम्राट समुद्रगुप्त अपने हाथ में वीणा लेकर स्वर छेड़ते हैं । परदा गिरता है)

लक्ष्मीनारायण मिश्र

जहाँ प्रसाद जी ने अपने नाटकों में भारतीय आदर्शों का प्रतिपादन किया है वहाँ मिश्र जी ने हिन्दी नाटकों तथा एकांकियों को नई दिशा प्रदान की है; नई भाव-भूमि दी है। हिन्दी के नाटककारों में पाश्चात्य की चेतना तथा भारत की समस्याओं की ओर सबसे पहले मिश्र जी का ध्यान गया है। मिश्र जी की विचारधारा समझने या उसे स्पष्ट करने के लिए हमें बहुत कुछ इधर-उधर खोजना नहीं है क्योंकि उन्होंने अपने नाटकों की भूमिका के रूप में अपने विचार स्पष्ट कर दिये हैं। साथ-ही, अपने विचारों तथा मान्यताओं को उसी रूप में उतारने का प्रयत्न भी मिश्र जी ने किया है।

हिन्दी में समस्यात्मक नाटकों का जन्म ही मिश्र जी के नाटकों के साथ होता है। यों तो बहुत से आलोचक इस मत के हैं कि समस्याएँ शाश्वत हैं और रहेंगी। साहित्यकार उससे अलग नहीं रह सकता क्योंकि समाज का सहज एवं सम्भाव्य चित्र ही तो साहित्य कहा जाता है, पर हिन्दी नाटक-साहित्य में मिश्र जी के नाटकों से ही समस्यात्मक नाटकों का प्रारम्भ हुआ है—मैं इसे मानता हूँ। समस्याएँ शाश्वत हैं, पर यथार्थवादी भूमि पर उनकी ओर देखना भी तो अपना मूल्य रखता है। आदर्शों के लिए यथार्थगत सत्य की हत्या करना, उसकी उपेक्षा करना सम्भवतः किसी भी ईमानदार साहित्यकार के लिए अपेक्षित नहीं है। मिश्र जी ने उसी का आधार लिया है और ईमानदारी के साथ समाज की विभीषिका प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं।

मिश्र जी ने यथार्थ को ही अपना ध्येय बनाया है और इसीलिए उसे प्रतिपादित करने की नाट्यकला को हम यथार्थोन्मुखी कहेंगे, पर यथार्थ के लिए आदर्शों तथा जीवनगत सत्यमयी परम्पराओं की उपेक्षा कराना मिश्र जी का उद्देश्य कभी भी नहीं रहा है। उनके पात्र भावना-

प्रधान, मानवतावादी, आदर्शोन्मुखी तथा परम्पराओं को आगे बढ़ाने में भी सहायक होते देखे जाते हैं। मिश्र जी के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है कि समस्या को आगे रखकर उपदेशक न बनना वरन् सजग साहित्यकार की भाँति उसका क्रियात्मक उत्पादन प्रस्तुत करना। सम्भवतः इसी एक सत्य ने मिश्र जी को हिन्दी नाट्य-साहित्य में अपना स्थान बना सकने में सफल बना दिया है।

जहाँ तक मिश्र जी के नाटकों की कलात्मकता का प्रश्न है, उसके विषय में स्पष्ट कहा जा सकता है कि स्वाभाविकता के पुजारी मिश्र जी को इसके लिए कहीं बाहर नहीं जाना पड़ा है। संकलनत्रय का सफल प्रयोग स्वाभाविकता को सबल बनाने में सहायक हुआ है। साथ ही, पूरे नाटकों में, एकांकी के अनुरूप तीन अंकों का निर्माण कर मिश्र जी ने एक नया प्रयोग किया है। हो सकता है कि हिन्दी के समसामयिक आलोचकों को ये यथा-तथ्य चित्र अरुचिकर लगे हों पर आज उन्हें पढ़ कर हम समाज की विभीषिका का नग्न चित्र देख सकते हैं—इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

मनोविज्ञान मिश्र जी के नाटकों का प्राण है। हर पात्र, जहाँ जिस भी अवस्था में है, उसी के अनुकूल उसके स्वर निकलते हैं। पाठक अनायास ही पात्र के साथ हो लेता है और दर्शक, अपने संयम को खोकर, पात्र के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए आँखों में आँसू भर लेता है। इसी में नाटककार की सफलता है कि वह पात्र, पाठक और दर्शक—सभी को समतल भाव-भूमि पर लाकर खड़ा कर देता है।

मिश्र जी बुद्धिवादी हैं और 'मुक्ति का रहस्य' कृति की भूमिका के रूप में उन्होंने स्पष्ट भी कर दिया है और यह बताया है कि उनका बुद्धिवाद पाश्चात्य की देन नहीं वरन् भारतीय उपनिषदों की देन है। उनके विचारों में वे लोग भूल करते हैं जो बुद्धिवादी विचारधारा को पश्चिम की देन मानते आये हैं। मिश्र जी के इस उपनिषद्गत बुद्धिवाद के परिणामस्वरूप उनका नाट्य-साहित्य विवेक और तर्क का साहित्य बन गया है। ऐसे स्थलों पर अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों या परम्पराओं का खुला संघर्ष उनकी भाव-भूमि बन गया है। सम्भवतः इसी कारण

जीवन को बड़ी ही गम्भीरता से सामने रखने का प्रयास मिश्र जी ने किया है जिसकी अन्तरात्मा के रूप में उन्होंने सदाचार, धर्म, विवेक और चिरन्तन सत्यों को स्वीकार किया है।

मिश्र जी के एकांकियों को यदि हम सामूहिक रूप में देखें तो हमें उन पर दो प्रकार के प्रभाव दिखाई पड़ते हैं जिनके परिणामस्वरूप नाटकों का अन्तरंग या बहिरंग निखर पाया है। न तो इनके नाटकों में किसी प्रकार की कृत्रिमता दिखायी पड़ती है और न चरित्र-निर्माण में कहीं भी स्वाभाविकता की उपेक्षा। कलात्मक कृत्रिमता की उपेक्षा के फलस्वरूप भाषा और कथानक का सतत्, सहज एवं सम्भाव्य विकास होता रहा है और शास्त्रीयता एवं रूढ़-मान्यताओं से दूर आकर, हिन्दी नाटक साहित्य को एक नया मार्ग देने का कार्य मिश्र जी ने किया है। चरित्र-निर्माण के लिए मनोविज्ञान तथा भारतीय जीवन के अनुरूप वातावरण का निर्माण उनके पात्रों को सजीव बनाने में सहायक रहा है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मिश्र जी के नाटकों में कला-शास्त्रीयता और नवीन मान्यताओं का सहज गठबन्धन है जिसके परिणामस्वरूप उनके नाटकों में आज के मानव का जीवन सजीव हो उठा है।

जहाँ तक मिश्र जी के नाटकों में प्रतिपादित समस्याओं की बात है, उन्होंने अपने नाटकों की भाव-भूमि राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं को बनाया है। साथ ही, इनके लिए व्यक्तिगत समस्याओं की उपेक्षा नहीं हो सकी है। संक्षेप में, स्पष्ट कहा जा सकता है कि मिश्र जी ने सामाजिक विभीषिका के नर-पिशाच की ओर स्पष्ट संकेत किया है जिसकी सीमाएँ व्यक्ति के उन्मुक्त प्रेम से लेकर सामाजिक अव्यावहारिकता तक सभी कुछ आ जाता है। मिश्र जी द्वारा प्रतिपादित सेक्स की समस्या को सामने रखते हुए कुछ आलोचकों ने अपना विचार प्रकट किया है कि इस भावना पर मूलतः पाश्चात्य की छाप है पर मिश्र जी इसे फ्रायड की देन न मानकर वात्स्यायन की देन मानते हैं।

मिश्र जी के एकांकी नाटकों में अशोक वन, प्रलय के पंख पर और मनु तथा अन्य एकांकी संग्रह आदि उल्लेखनीय हैं।

एक दिन

[देहात के किसी गांव में खपरैल का मकान। माटी की दीवारें चिकनी कर चूने से लीपी गयी हैं। आगे की ओर काठ के खम्भों पर बना ओसरा। खम्भे काले पड़ गये हैं, उनके रंग से ही उनकी आयु फूट रही है। उनका हीर अब इतना सूख गया है कि जगह-जगह टेढ़ी-मेढ़ी दरारें पड़ गयी हैं। जाति का गुण और बल और कहीं माना जाय या नहीं, इन खम्भों की लकड़ी में तो ठोस है। ये शीशम के खम्भे अपनी टेक में पत्थर का कान काट रहे हैं। भीतर जाने का पुराना द्वार दाईं ओर बाहर से पड़ता है। इससे हटकर तीन नये किवाड़ इस समय के हैं जो अपनी बनावट, लकड़ी और पल्लों से, इस नये युग की बस यही इतनी छाप इस घर पर लगा रहे हैं। इस नये युग का सब काम जब यह पुराना घर न दे सका, तब बैठक के लिए यह एक कमरा बना लिया गया। भीतर की इतनी जगह ले ली गयी। इस कमरे में एक ओर पलंग पर बिछावन बिछा है, नीचे कच्ची धरती पर नयी दरी पड़ी है। दूसरी ओर देहाती बढ़ई की बनाई भोंडी मेज और बेंत की तीन कुर्सियों और दीवालों पर कुछ नये-पुराने सस्ते चित्र हैं। ऊपर बांस के फट्टों में कील लगाकर रंगीन चांदनी लगी है। मेज के पीछे एक किवाड़ दालान में होकर जाने का है।

भीतर की ओर से राजनाथ का प्रवेश। ऊँचा पुष्ट शरीर। ललाट पर रेखाएं। बाल गंगा-जमुनी, भवें तनी और लम्बी, आंखों में लाल डोरे। सांस कुछ बड़ी चाल में है। एक कुर्सी खींचकर बीच वाले द्वार के सामने धम्म से बैठ जाते हैं। तीन चार हथेली से ललाट पीट लेते हैं, फिर हाथ लट्ठ से कुर्सी की बांह पर गिर पड़ता है।]

राजनाथ—चक्रनेमिक्रमेण......चक्र को इस गति को मैंने रोकना

चाहा । यह उसी का दण्ड है । बड़े बने रहने के मोह में मैंने पूर्वजों की मर्यादा मिटा दी । आँधी के वेग में एक-एक पत्ता, हर डाल-टहनी के साथ आ जाना मैंने नहीं चाहा और अब ठूंठ हूँ । मोहन...मोहन...।

मोहन—जी आया (उसी द्वार से प्रवेश । प्रायः बीस वर्ष की अवस्था का युवक । रेशमी कमीज और उजली धोती । आँखें धरती की ओर, मुँह पर भय की छाया) जो इसमें थोड़ा......।

राजनाथ—कभी नहीं, जो हो गया......जन्म भर उसी में जलता रहूँगा । पाँच पीढ़ी की बात जानता हूँ । अस्सी के नीचे कोई मरा नहीं । मेरे अभी पचपन हैं । उतना सुखी नहीं रहा, फिर भी अभी पन्द्रह बरस तो चलेंगे ही ।

मोहन—जरा सोचिये तो पिताजी, कितनी बड़ी समस्या से पिंड छूटेगा ? झूठी मर्यादा । अपनी लड़की का सुख आप नहीं देखते ।

राजनाथ—गोली मार दो तुम मुझे । उस सुख से बड़ा सुख मिलेगा मुझे इसमें । वंश की मर्यादा तुम्हारे लिए झूठी हो गयी, जिसे बचाने में सब कुछ चला गया ? बाप-दादों का घर भी चला गया । जिस घर में पैदा हुआ, खेला-कूदा, बड़ा हुआ......जिसमें तुम्हारी माँ आयीं, तुम भी जिसमें जन्मे थे, उसके नीलाम की डुग्गी से प्राण उतना नहीं बिंधा था जितना आज बिंधा है ।

मोहन—सब कहीं यह हो रहा है...बड़े से बड़े घरों में...बिना कन्या देखे विवाह अब बड़े घरों में नहीं होता ।

राजनाथ—सो तो तुम कर चुके । विष की एक घूंट तो मैं पी गया, दूसरी न पिऊँगा ।

मोहन—मैं नहीं समझता, अब इस युग में इसमें बुराई क्या है, वर अपनी रुचि की कन्या चाहता ही है, फिर भी ऐसा वर जो...।

राजनाथ—जो एम० ए० में पढ़ रहा है, बड़े बाप का बेटा है, जिसका बाप नामी वकील है, जो कभी भी हाईकोर्ट का जज हो सकता है, जिसकी कोठियाँ हैं, मोटरें हैं, हटो-बचो जिसके यहाँ लगा है । क्यों......?

मोहन—हाँ, तो इसमें झूठ क्या है ? क्या उस परिवार में शीला सुखी न होगी ? कन्या के प्रति आपका जो कर्तव्य है उसे देखिये। लड़कियों का कभी यहाँ स्वयंवर होता था। यह भी इसी देश की मर्यादा है।

राजनाथ—इस देश की क्या मर्यादा है, तुमसे न सीखूंगा। उसे सीखने के लिए किसी विलायती प्रोफेसर के पास भी न जाऊँगा। वह तो जिस तरह मेरे पूर्वजों के रक्त के रूप में मेरे इस शरीर में है, उसी तरह संस्कार के रूप में मेरे मन में है।

मोहन—अच्छी बात। तो फिर आप जानें......।

राजनाथ—इस तरह धमका कर नहीं बेटा। झूठा भय और झूठा इतिहास......इस तुम्हारे नये युग में बस यही दो बातें हैं।

मोहन—क्या कहते हैं ?

राजनाथ—लड़कियों का स्वयंवर यहाँ होता था पर चुनता कौन था ? कन्या या वर ? एक कन्या के लिए सैकड़ों युवक आते थे। रूप, गुण और पौरुष में जो बड़ा होता उसे कन्या चुनती थी। जयमाला जिसके गले में पड़ती वह अपने भाग्य से फूल उठता। उस युग में कन्या की यह मर्यादा थी, आज क्या है ? स्त्री जाति जितने नीचे पिछले दस वर्षों में गयी है उतनी पहिले कभी नहीं गयी।

मोहन—तो यह झूठा इतिहास है।

राजनाथ—यही, और तुम अब कहते हो...मैं जानूं और मेरा काम जाने। यह भय तुम दिखाते हो। जैसे मेरी लड़की के भाग्य में कुछ है ही नहीं। तुम उसके लिए भाग्य गढ़ कर लाये हो। तुम्हारे साँचे का भाग्य या तो मैं मान लूं और नहीं तो फिर मेरी लड़की दुःख उठायेगी।

मोहन—भाग्य मैं नहीं मानता। परिस्थिति सब कुछ करती है। निरंजन इस भयानक गर्मी में नैनीताल होता। इस गाँव की धूल में स्टेशन से तीन मील पैदल न चला होता।

राजनाथ—(हँसकर) तुम्हें उसका कृतज्ञ होना चाहिये। वह तुम्हारे लिए तीन मील पैदल आ गया। नैनीताल का निवासी इस ठेठ देहात

में। इन्हीं देहातों में वह धन जाता है जिसे निरंजन का बाप नैनीताल में खर्च करता है। राम, लक्ष्मण और जानकी को कितना पैदल चलना पड़ा था मोहन? नंगे पैर गौतम कहाँ-कहाँ घूम आये थे?

मोहन—आप तो बस वही आदर्श के सपने देखते हैं।

राजनाथ—बिना इन सपनों के मनुष्य दरिद्र हो उठेगा। इन्हीं से हम धनी हैं मोहन। इतिहास पढ़ते हो तुम एम० ए० में और वह निरंजन भी। निकाल दो इतिहास से इन सपनों को, देखो वहाँ फिर क्या बचता है? फिर भी इतिहास का एक ही पाठ है।

मोहन—इस समय प्रसङ्ग क्या है और आप...

राजनाथ—इस समय का प्रसंग भी इतिहास से जुड़ा है—मेरे, मेरे पूर्वजों के...निरंजन और उनके पूर्वजों के इतिहास से यह प्रसङ्ग भी जुड़ा है। जो बहुत बड़े बन जाते हैं, प्रकृति उन्हें टिकने नहीं देती। मेरी जो दशा आज सात पीढ़ी के बाद है, निरंजन की दूसरी ही पीढ़ी में होगी। यही इस जगत् का चक्र है। ऊपर का बिन्दु नीचे और नीचे का बिन्दु ऊपर। (दोनों हाथों को घुमाकर तर्जनी से परिधि बनाते हैं)

मोहन—तो इस समय मैं जाऊँ, आपका चित्त...

राजनाथ—ठिकाने नहीं है। पुत्र कह रहा है, पिता का सिर ठिकाने नहीं है। तुम्हारे विचार मुझसे नहीं मिलते, इसलिए मैं पागल हूँ। तुम्हारे शब्दों में तुम्हारे इस युग और इस देश की नयी पीढ़ी बोल रही है, जिसका विश्वास अब अपनी जड़ों में नहीं है। (उसकी ओर एकटक देख कर)...नहीं समझ रहे हो?

मोहन—क्षमा करें, यदि मुझसे...इधर सालों से आपको चिन्तित और व्यग्र देखता रहा।

राजनाथ—उसके लिए इतना सीधा, इतना सस्ता उपाय तुमने खोज लिया। आज के पत्रों, पुस्तकों में ऐसे ओछे काम बहुत मिलते हैं। बस एक ही व्यापार चल रहा है...कुमारियों और उनके प्रेमियों की प्रेम-लीला। यूरोप और अमेरिका में भी इतना मद नहीं जिसमें यह देश डूब रहा है।

मोहन—तो आपका कहना है कि मैं निरंजन को यहाँ ले आया

किसी ठोस कार्य के लिए नहीं। यदि यह हो जाय तो इसका सुख आपको न होगा? शीला रानी बनकर न रहेगी?

राजनाथ—यही मुझे डर है। रानी बनाने के मोह में कहीं तुम उसे बोर न दो। जहां आरम्भ ही अशुद्ध है वहां अन्त क्या शुद्ध होगा? और इन दिनों में निरंजन ने उसे कई बार देखा। तुम्हारे साथ उसने उसे भी भोजन कराया, जलपान कराया। बिना संकोच के जैसे वह तुम्हारे सामने रही है वैसे ही उसके सामने भी रही।

मोहन—यही तो नहीं रहा। कल दिन में जब वह सोकर उठा, कई बार वह उसका नाम लेकर बुलाता रहा। एक गिलास पानी के लिए वह उसके पास नहीं गयी। क्या कहेंगे आप, यह उसका अपमान नहीं हुआ? वह तो रात ही जाने को तैयार था। मैंने बड़े आग्रह से रोका और कहा कि बच्चा है, जाने दो।

राजनाथ—और अब वह उससे अकेले में बात कर निर्णय करेगा। उसकी परीक्षा लेगा कि वह उसके योग्य है या नहीं और तब उसे स्वीकार कर तुम्हें कृतार्थ करेगा या कह देगा 'नहीं', जी मुझे पसन्द नहीं, नौकर से पानी न मांग कर उसने तुम्हारी बहिन से मांगा।

मोहन—ऐसी इच्छा उसकी स्वाभाविक थी। समय बदल गया। मैंने कहा भी, उसे कोई लड़कियों का स्कूल ही धरा दें। आप रामायण, महाभारत पढ़ाते रहे, उसका परलोक बनाने के लिए। यह लोक बने या न बने। उसके सामने जाने में उसे लाज लगती है...एक गिलास पानी या दो बीड़े पान लेकर। जैसे उसका जन्म इस बीसवीं सदी में नहीं, सोलहवीं या पन्द्रहवीं में हुआ हो।

राजनाथ—हूं, तो इस युग की लड़की में आत्म-सम्मान नहीं है। वह उस पुरुष के चारों ओर भांवर देती है जो उसे देखकर, बातें कर, बड़ी कृपा से अपनी स्त्री बनाना चाहता है। नीच! एक शब्द भी मेरी लड़की के विरुद्ध कहा तो जीभ खींच लूंगा। उसके शरीर में मेरा, मेरी उन सात पीढ़ी का रक्त है जो सम्मान के लिए मर मिटीं। तुम्हारे ऐसे पुत्र से वह पुत्री भली जिसने कम से कम अपना, अपने मां-बाप का सम्मान

तो रक्खा। रामायण और महाभारत पढ़कर जो वह असभ्य या अपढ़ है, उसका पता तब चलेगा जब किसी दिन तुमसे वह बातें करेगी। और ठीक है, करेगी वह एकान्त में बातें तुम्हारे इस देवता से...मन और बुद्धि के नहीं, धन के देवता से।

मोहन—नहीं, जाने दीजिये। मैं उसे अभी स्टेशन पहुँचा आता हूँ।

राजनाथ—अभी नहीं। बैठ जाओ, वह कुर्सी लेकर। तुमने पत्र में लिखा था, तुम्हारे एक मित्र निरंजन कुमार देहात देखना चाहते हैं। मैंने लिख दिया, लिवा लाओ। जिस घर के अतिथि किसी समय नवाब आसफुद्दौला रह चुके थे, कुँवरसिंह और अमरसिंह सत्तावन वाले विद्रोह में जहाँ तीन दिन अपने सिपाहियों के साथ पड़े रहे, इस बिगड़े समय में भी तुम्हारे एक मित्र का सम्मान वह कर सकता है। मुझे क्या पता था कि तुम स्वार्थ की इस निचली तह में उतर जाओगे। विवाह के पहले तुम्हारी बहन को कोई उस आँख से देखे और तुम उसे फोड़ न दो।

मोहन—पर उसने किस ऐसी आंख से देखा कि......।

राजनाथ—जो काम वह किसी भी नौकर से ले सकता था वह उसने तुम्हारी बहन से लेना चाहा...केवल इसलिए कि अकेले में वह भर आँख उसे देखे, दो बातें पूछे...इसके बाद वह उससे कहता पैर दबाने के लिए...(क्रोध से कांपते हैं।)

मोहन—राम, राम! कितना अनर्थ कर रहे हैं आप? शीला के भाग्य में जो होगा, होगा। अब तो इसी क्षण निरंजन यहाँ से चला जाय।

राजनाथ—इस घर ने बड़े चढ़ाव-उतार देखे मोहन, पर यह कभी नहीं देखा। यह धरती फट जाती और इसमें मैं समा जाता। यही था, तो पहले तुमने मुझसे राय ले ली होती।

मोहन—मैं जानता था लड़की दिखाने को आप तैयार न होते।

राजनाथ—इस तरह नहीं। श्री चौधरी से जब और बातें तय हो जातीं, मैं उन्हें लड़की दिखा देता पर निरंजन को कभी नहीं। विवाह

के पहले जो लड़का लड़की को स्वयं देखना चाहता है वह असभ्य है। पसन्द करने का अधिकार वह अपना मानता है, कन्या का नहीं। तुम जितना समझते हो मैं उतना जड़ नहीं हूँ। प्रगति रोकने मैं नहीं जाता, बस इतना जान लो, प्रगति अन्धों की नहीं आँखवालों की होती है।

मोहन—सामन्त विचारधारा अभी आपकी नहीं छूटी है। हर बात में आप मर्यादा और आदर्श डाल देते हैं, यहाँ तक कि अपनी लड़की का सुख भी आप नहीं देखते।

राजनाथ—तोते की रट...सुख, सुख, सुख...जैसे तुम्हारे इस काम से उसका सुख तय हो जायगा। उसकी होनी क्या है....भगवान् उसे सुख न देना चाहें तो फिर सोने का अम्बर भी धूल हो जायेगा। मैं सामन्त विचारधारा में पड़ा हूँ और तुम धन के मोह में। धन के सामने तुम्हारे लिए बहन का मान भी मिट रहा है। (काँप कर) कुछ नहीं, तुम यह कहो, तुमने कहा क्या इस निरंजन से? कैसे तुम्हारी बातें यह मान गया? तुमने कहा होगा...अपनी बहन के लिए अपने आप ही उसे निमन्त्रित किया होगा?

मोहन—जी नहीं...हम दोनों में परस्पर परिचय और स्नेह बढ़ा। होस्टल से अपनी कार पर वह मुझे बराबर अपनी कोठी पर ले जाता था। जहाँ इतनी सरलता होती है, घर-परिवार की बात चलती ही है। उसे यह तो पता हो गया था कि मेरे पूर्वज कुल सौ वर्ष पहले राजा थे। आज हमारे दिन बुरे हैं।

राजनाथ—यह तुमने कहा, जिसने इनसे अच्छे दिन कभी देखे नहीं। पर मैं जो सब देख चुका हूँ, कभी नहीं कहता कि मेरे दिन बुरे हैं, जिस युग की हम उपज थे जब वह चला गया तो उसकी उपज कब तक टिकती? राज्य मिट जाते हैं। बड़े से बड़े वीर और ज्ञानी किसी दिन मरते हैं, पर उनकी लौ जलती रहती है। व्यक्ति और मनुष्यता का मान यह ही है। तुमने अपने बुरे दिन की बात कही और वह दया में पिघल उठा। जहाँ किसी भी रूप में दया की माँग है वहाँ व्यक्ति मर जाता है, जीता नहीं। मीना का पता उसे कब लगा?

मोहन—उनके घर में उनकी भी बहन है। उसकी आयु भी शीला की है। इसी साल उसने इन्टर किया है। वह बराबर मुझसे घुल कर बातें करती है। उसकी माँ, चौधरी साहब, उनके व्यवहार में बनावट मुझे कहीं नहीं देख पड़ी।

राजनाथ—इसलिए कि अभी वे बाढ़ पर हैं। अपनी बाढ़ में वे तुम्हें भी बहा रहे हैं। किसी दिन यह बाढ़ निकल जायगी और पीछे छोड़ जायगी कीचड़ और दलदल। जो तुम्हारे घर हुआ, उनके घर भी होगा। इसलिए जिसे देखो, धन से अलग कर देखो। पद, प्रतिष्ठा और अधिकार से अलग कर देखो। उस मनुष्य को देखो जो तुम्हारे इस युग में जन्म ले रहा है, जो धन और अधिकार से नहीं अपने गुणों से आगे बढ़ेगा। अपने घर की सामन्त भावना के विरोधी निरंजन के धन की चमक में आँखें न मूंद लो। निरंजन अपने दादा का नाम भी नहीं जानता।

मोहन—क्यों ?

राजनाथ—चौंकने की बात नहीं। अपने पिता को छोड़ कर, अपने कुल की कोई बात वह नहीं जानता। इतिहास की बातें और जो कुछ वह जानता हो, अपने घर का इतिहास नहीं जानता।

मोहन—कभी अवसर न मिला होगा। कहे भी कौन उनसे ? वकील साहब पाँच बजे सवेरे बैठते हैं, दस बजे तक दम नहीं लेते। स्नान और भोजन में बस बीस मिनट...हाईकोर्ट और लौट कर फिर आधी रात तक। नामी वकील होना भी कम संकट नहीं है।

राजनाथ—अधिकार के लिए तुम्हारे पूर्वज लड़ते-मरते रहे। उन्हें अधिकार और प्रभुता के लिए जीना था। वकीलों और सेठों को धन के लिए जीना है। समाज का निर्माण तब अधिकार पर टिका था, आज धन पर टिका है। वकील साहब भी केवल अपने पिता का नाम जानते होंगे। उस घर का इतिहास जितना मैं जानता हूँ उससे अधिक वे भी नहीं जानते।

मोहन—तो आपका परिचय उनसे है ? आप तो मुस्करा रहे हैं ?

राजनाथ—(हँसकर) हाँ...और अब तुम सुन लो। रात निरंजन से बातें करके मैं यह जान गया कि देवनन्दन चौधरी के शरीर में मेरा नमक है।

मोहन—क्या कह रहे हैं आप यह सब...?

राजनाथ—मुझे याद पड़ रहा है। सात-आठ का रहा हूँगा उस समय। रघुनन्दन चौधरी की छरहरी लम्बी देह, गझिन मूंछ, लम्बे काकुल, सिर पर केसरिया रंग की कली, आँखों में सुरमा और ओठ पर पान की लाली। अंग्रेज कलक्टर दौरे में आया था। दो दिन गढ़ी में रहा। रघुनन्दन उन दिनों बाबू जी के मुंशी थे। रियासत का वहीखाता, हाकिमों की आवभगत, सब कुछ उनके हाथ में था। आठ बजे सवेरे बाबूजी के सामने हाथ जोड़ कर सिर झुकाते थे और फिर रात को भी आठ ही बजे, दिन भर के काम की बात उन्हें बताकर गढ़ी में पीछे की ओर अपनी जगह पर चले जाते थे।

मोहन—वकील साहब के कोई सम्बन्धी थे रघुनन्दन चौधरी?

राजनाथ—उनके बाप थे।...बड़े हँसोड़ और मौके की बात कहने वाले। अंग्रेज कलक्टर उनसे इतना प्रसन्न हुआ कि बाबू जी से कह बैठा, वह चौधरी को अपना पेशकार बनायेगा। चौधरी हमें छोड़ना नहीं चाहते थे। जाने के समय इतना रोये कि बाबूजी ने अपने अँगोछे से उनके आँसू पोंछ कर कहा था...जब चाहना यहाँ आ जाना, यह घर तुम्हारा है। चौधरी चले गये लेकिन उनकी स्त्री और लड़का जो मुझसे कुछ छोटा था गढ़ी ही में रहे। कितने दिन, ठीक-ठीक नहीं कह सकूँगा। देवनन्दन मेरे साथ खेलते थे। गढ़ी के बाहर जंगल में एक दिन दोनों दौड़ रहे थे, देवनन्दन मेरे धक्के से गिर पड़े और यहाँ भौंह के ऊपर एक अंगुल लम्बी हड्डी धँस गयी। है यहाँ कोई उनके चोट का निशान?

मोहन—(विस्मय में) जी हाँ, है। मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है। कह दीजिये, आपने मुझे क्षमा किया। नहीं तो इस दुःख से मैं बीमार पड़ जाऊँगा।

राजनाथ—लड़की की तरह नहीं...लड़के की तरह। तुम लोग थोड़ी आँच नहीं सह सकते। किस बात का दुःख है तुम्हें? देवनन्दन चौधरी के अनुकूल इस समय भाग्य है। बड़े पेड़ गिरते हैं, ठूंठ जाते हैं, उनकी जगह नये बढ़ते हैं। यही क्रम है। तुमने भगवान् के लिए कुछ भी नहीं छोड़ना चाहा, यही भूल हुई।

मोहन—तब क्या हुआ?

राजनाथ—रघुनन्दन चौधरी ने लड़के और स्त्री को बुला लिया। अपने आप पेशकार से बढ़कर डिप्टी हुए। लड़का पढ़ता गया और आज नामी वकील है। कल हाईकोर्ट का जज हो सकेगा। सब कुछ मिट सकता है, पर संस्कार की जड़ें जल्दी नहीं उखड़तीं। शीला और निरंजन के संस्कार में अन्तर है। निरंजन के धन से वह सुखी हो सकेगी, इसमें मुझे तो सन्देह है। तुम भाई हो और मैं बाप हूं। उससे इस विषय की कोई बात सीधे पूछो तो नहीं बता सकेगी फिर भी अभी मैंने जो उसे देखा वह किसी चिन्ता, किसी दुःख में थी।

मोहन—इसका कारण मैं हूँ। मैं कल भी उसे दो बात कह गया और आज तो यहां तक कहा कि यदि तुम उससे ढँग से बात न करोगी तो मैं तुम्हारा मुंह न देखूंगा।

राजनाथ—सगी बहन के साथ तुम चाहे जैसा व्यवहार करो, बस, इतना जान लो, उपन्यासों और कहानियों से संसार नहीं चलता। तुमने जो यह जाल बिछाया उसे अब तुम न समेट सकोगे। यह काम अब मुझे करना पड़ेगा। जो मैं नहीं चाहता वही करना होगा। मेरी बेटी इस घर में दुःखी न रहे, यह तो मैं कर सकता हूं। मेरा विश्वास, मेरा स्नेह उसका बना रहे। पिता के धर्म में मैं खोटा न बनूं। जाओ, उसे भेज दो। उसे समझाकर, समझूंगा तो निरंजन से भी मैं ही...

मोहन—अभी कुछ नहीं बिगड़ा है बाबूजी...निरंजन चला जाय, मेरी बहन किसी दूसरे घर जिसका इतिहास, संस्कार इस घर से मेल खाये।

राजनाथ—सामन्त भावना में अब तुम आ रहे हो। जो मर गया

उसे जिलाने की चेष्टा अब पाप है। कुल और वंश के अभिमान को भूल जाओ और भूल जाओ कि निरंजन के पूर्वज कभी तुम्हारे आश्रित थे। भाग्य कभी तुम्हारे साथ था, आज उनके साथ है। जाओ, भेज दो शीला को। उसका संयोग जिसके साथ होगा, लाख चेष्टा पर भी न रुकेगा। मैं भाग्यवादी हूँ। इस अवस्था में इतने चढ़ाव-उतार के बाद कोई भी भाग्यवादी हो जाता है।

(मोहन का प्रस्थान। राजनाथ कुर्सी से उठकर पलंग पर पड़ रहते हैं और तकिये में मुँह छिपा लेते हैं। शीला का प्रवेश। भारी आँखें, पलकें गिरती नहीं। सुन्दरता के अमृत में विषाद का विष मिल गया है। उसके चलने की आहट नहीं होती। आँचल से आँखें पोंछती है।)

शीला—(भरे कंठ से) आ गयी मैं....बाबूजी ! आप काँप रहे हैं ! मैं मर गयी होती आप रोते तो नहीं ? (तकिया हाथ से खींच कर, उनकी छाती पर सिर रख कर सिसकने लगती है।)

राजनाथ—(झटके से उसे सँभाल कर बैठते हुए) बेटी के लिए बाप कब नहीं रोया ? नहीं, देखो, सुनो भी। जानकी के लिए विदेह-जनक रोये थे। मैं रोया तो कोई बात नहीं। न मानोगी, तुमसे कुछ पूछना है।

शीला—आप क्या नहीं जानते मेरा ? आप से मेरा कुछ छिपा है, भैया नहीं जानते, मेरा मुँह नहीं देखेंगे।

राजनाथ—उसका मुँह मैं नहीं देखता, पिता का प्राण जो इस देश में न होता। फिर भी वह तुम्हें सुखी देखने के लिए...

शीला—सुखी देखने के लिए मुझे इतना बड़ा दुःख आप के जीते जी ? वे अपने घर के बड़े होंगे, इस घर की बड़ी मैं हूँ। आपके पास धन नहीं है पर क्या भाव भी नहीं हैं मेरे लिए ? किसी पेड़ के नीचे... झोंपड़ी में मैं सुखी रहूँगी। जानकी के चौदह वर्ष वन में बीत गये। मैं क्या हूँ ? जिसका संग हो उसका विश्वास और आदर मिल जाय, इससे बड़ा धन सोने-चाँदी में लिपटना नहीं है।

राजनाथ—वह युग अब नहीं रहा बेटी। इस देश में अब जानकी भी नहीं...क्या कहूँ ? किस की बात चलेगी ?....होगी वह कोई विदेश

की नारी, पुरुष को धक्का देकर बढ़ने वाली। बैंक में उसकी लम्बी रकम होगी।

शीला—उससे उसे पूरा सुख मिलता होगा। सचमुच पति की आँख में आँख गड़ा कर वह देखती होगी ?

राजनाथ—इस युग में हम अपना सब कुछ विदेशी आँखों से देख रहे हैं। स्वतन्त्रता का उत्सव हम मना रहे हैं अपने को भूलकर, अपने गुण और अपनी मान्यताओं को भूल कर। आगे चलने में जो पीछे घूम कर देखते नहीं थे, वही अब दूसरों के पीछे सरपट दौड़ रहे हैं। स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र नारी को अब सब कुछ फाड़ फेंकना है। जानकी उसके लिए बड़ी भोली और धर्मभीरु हैं...उनमें बुद्धि की कमी है, साहस की कमी है, व्यक्तित्व की कमी है।

शीला—जी, वे भाषण न दे सकीं। (मुस्कराती है) दशरथ को ललकार न सकीं। रामचन्द्र से न कह सकीं कि तुम अपने पिता के धर्म के लिए वन जा रहे हो, मेरे रूप और यौवन की ओर नहीं देखते। आज की नारी यही कहेगी। पर आपने मुझे इस युग की चकाचौंध में जाने भी नहीं दिया। मुझे तो जानकी के त्याग में ही उनका सबसे बड़ा अधिकार देख पड़ा है। वह अधिकार अब तक नहीं मिटा, कभी नहीं मिटेगा। अकेली एक जानकी में इस देश की नारी-जाति लय हो चुकी है।

राजनाथ—तब तुम निरंजन से बातें कर सकती हो। वह चाहता है कि...(ऊपर देखने लगते हैं।)

शीला—कोई बात नहीं। जानकी रावण से बातें कर सकी थीं, फिर भी रावण का संयम इन, निरंजन, में होगा या नहीं। रावण इतना लोलुप नहीं था। वह अशोक वन में जानकी के निकट जब गया, अपने बचाव के लिए अपनी रानी को साथ लेता गया, और उन्हें अकेले में बातें करनी हैं।

राजनाथ—देश के सभी पढ़े-लिखे लड़के इस समय निरंजन हैं, उनमें रावण का भी संयम नहीं है।

शीला—तो फिर इनके इस रोग की दवा यहाँ की लड़कियाँ करेंगी। हम सब को सीता बनना पड़ेगा। तो कहाँ उनसे मुझे बातें करनी होंगी ?

राजनाथ—लेकिन क्रोध नहीं बेटी। तुम लाल हो गयीं।

शीला—आप के सामने। उनके सामने मैं न लाल हूँगी न पीली। संयम और विचार न छूटेगा मुझसे...

राजनाथ—सोच लो जो तुम धीर बनी रहो।

शीला—सोच लिया। आपको कोई भी अवसर मेरी चिन्ता, सन्देह का न मिलेगा। अपना सम्मान चाहती हूँ। मैं फिर उनके सम्मान को ठेस न दूंगी।

(मोहन का प्रवेश। उद्विग्न मुद्रा में कभी शीला को और कभी राजनाथ को देखता है।)

राजनाथ—क्या है? ऐसे घबड़ाये क्यों हो?

मोहन—जा रहा हूँ...उसे स्टेशन पहुँचा दूं। मैंने उसे यहाँ बुलाकर उसका अपमान किया। शीला उससे घृणा करती है। क्या...क्या...कह रहा है। कहूँ तो उसके पूर्वजों का इतिहास उसे सुना दूँ।

शीला—घृणा भी एक तरह का सम्बन्ध है। मुझे इन देवता पर दया आ रही है, ये मुझे समझते क्या हैं? बाबूजी! यह बेचारा मन और आत्मा का रोगी है। भविष्य के लिए कुछ नहीं छोड़ता। सब कुछ वर्तमान में दबा रहा है। सौ वर्ष जीने से अच्छा है इसके लिए एक दिन या बस एक क्षण जीना। कुम्भकर्ण छः महीने में एक दिन खाता था और यह जीवन भर के लिए एक ही दिन खा लेना चाहता है।

राजनाथ—(गम्भीर मुद्रा में) हँसी सूझती है तुझे...

शीला—झूठमूठ में रो पड़ी। आप भी रोये। मनुष्य को विपत्ति पर ही हँसी आती है और इससे बड़ी विपत्ति और कहाँ हम लोग देखेंगे? (हँसने लगती है)

राजनाथ—हूँ हूँ...पागल हो रही है। ऐसे ही उससे बातें करेगी?

मोहन—अब यह उसके सामने क्या जायेगी...(क्रोध और ग्लानि की मुद्रा)

शीला—तो फिर ये देवता यहाँ से ऐसे ही रोगी चले जायेंगे?... निर्दम्भ चरित्र को हँसी नहीं आती...आपने एक बार कहा था बाबूजी?

राजनाथ—तीस करोड़ के इस देश में आज तीस भी हँसने वाले नहीं हैं। इसका कारण केवल आर्थिक नहीं, नैतिक भी है। आर्थिक होता तो कम से कम मिल-मशीन वाले पूंजीपति और चोर-बाजार वाले तो हँसते ?...उनकी तिजोरियां भरी हैं, पर मन खाली हैं। चरित्र-बल अब हमारी धरती में नहीं है। जो पीढ़ी आ रही है उसका नमूना निरंजन है, मोहन है। देखो इन्हें, खड़े-खड़े कांप रहे हैं जैसे अभी रो पड़ेंगे या गिर पड़ेंगे। यह नयी शिक्षा क्या हुई, चरित्र की बागडोर छोड़ दी गयी। मन के विकार और भावना की आंधी में सेमर की रुई सी हमारी यह पीढ़ी उड़ी जा रही है।

मोहन—मैं जल रहा हूँ और आप मुझ पर व्यंग कर रहे हैं ?

राजनाथ—जो जलता है व्यंग उसी पर किया जाता है बेटा ? तुम क्यों जल रहे हो ? जीवन को फूलों की सेज तुमने क्यों मान लिया ? फूलों में भी कांटे होते हैं। विपरीत परिस्थिति में जो न डिगे वही पुरुष है और तुम जानते हो, सब कुछ अनुकूल ही नहीं होता। निरंजन कभी तुम्हारा आदर्श था और अब तुम्हारी आँखों में वह इतना नीचे है। दोनों ही झूठ हैं। दोनों को मिला कर बराबर करो तब तुम्हें निरंजन मिलेगा। शीला, बुलाऊँ उसे यहां। उसे आघात तो न पहुँचाओगी ?

शीला—मुझ पर कुछ भी सन्देह हो तो नहीं। मैं उन्हें घृणा नहीं करती। घृणा के लिए कुछ परिचय होना चाहिए। आप जानते हैं, मेरा उनसे कुछ परिचय नहीं है।

राजनाथ—(उठकर) तब मैं उसे बुला लाऊँ। तुम यहां न रहना मोहन, जब वह आ जाय।

मोहन—अब इसका फल कुछ नहीं। यह होना चाहिए था पहले, अब वह जाने को तैयार है। कपड़े पहन चुका है।

राजनाथ—नदी की बाढ़ उतर जाती है। मन का वेग न उतरता तब तो मनुष्य अपने ही ताप से जल मरता और फिर तुम्हें वह जान गया। इस घर में मुझे और शीला को भी जान ले, यही ठीक होगा।

(प्रस्थान)

मोहन—तुम उससे अकेले में बोल सकोगी ?

शीला—मैं उनसे डरती नहीं। वे बोल सकेंगे मुझसे ? मुझे सन्देह तो इसी का है। बाप के धन का बल, शिक्षा का बल, चरित्र और व्यक्ति का बल नहीं बनेगा ? देख लेना, उन्माद जो उनमें आ गया है, पल भर में उड़ जायगा। बाबूजी से नहीं कहा, मुझसे तो कहे होते कि तुम्हारे मित्र यहाँ मेरे लिए आये हैं।

मोहन—मैं क्या जानता था कि तुम ऐसी जिद्दी हो।

शीला—इसका उत्तर मैं उन्हें दूंगी। मेरा मुंह तुम अब तो देखोगे ?

मोहन—मुझे लजाओ न शीला। तुममें मुझसे बुद्धि अधिक है।

शीला—बुद्धि स्त्री है और बल है पुरुष। बुद्धि और बल के मेल में व्यक्ति बनता है। लुक-छिप कर बुद्धि चलती है, बल को यह कला नहीं आती।

मोहन—क्या ? कैसे देख रही हो ? शीला, तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। तब वह यहाँ नहीं आयेगा।

शीला—क्यों। मुझे उसके लिए तैयार होने दो।

मोहन—किसके लिए ?

शीला—तुम्हारे मित्र से बात करने के लिए। एक-एक साँस का बल मुझे बटोरना होगा। उनके सामने मेरी आँखें नीची न पड़ें। यही चाहते हैं वे। अपना और मेरा अन्तर वे देख लें।

मोहन—तुम्हारे मुंह का रंग हर पल जो बदल रहा है। तुम मुझसे कुछ छिपा रही हो शीला।

शीला—मन की गति जो हर पल बदल रही है। मन की बात मुंह पर आती है। तुम्हारी बहन की आज परीक्षा है। परीक्षक है एक पुरुष जो तुम्हारा मित्र बनता है। कैसा मित्र है वह ? क्या स्नेह है उसका तुम्हारे लिए ? जब तुम्हारी बहन के लिए वह इतना निर्दय है ?

मोहन—मैं उसे यहाँ नहीं आने दूंगा। (उठता है)

शीला—(उसका हाथ पकड़ कर) मैं उसे इस योग्य नहीं छोड़ूंगी

कि फिर वह किसी स्त्री के साथ ऐसा व्यवहार करे। नहीं...तनिक नहीं, तुम न घवड़ाओ। मुझे स्वीकार कर वह तुम पर कृपा करता। अब वह तुम्हारी कृपा चाहेगा कि तुम अपनी वहन उसे दो। भैया, तुम उसकी एक वात न सुनना और कह देना तुम अयोग्य हो। चाहिए तो यह था कि लुक-छिप कर मैं उसे देखती (हँसकर) और जब लुक-छिप कर मुझे देखना उसने चाहा तो फिर चाहे उसकी देह सोने के पतर में मढ़ी हो, उसके भीतर वह पुरुष कहाँ है जिसकी ओर मैं.... (नाक और भोहें टेढ़ी पड़ती हैं)

मोहन—लुक-छिप कर वह तुम्हें देखना चाहता था। नीच....

शीला—नीच नहीं निर्वल। जिसकी पुरुष देह में स्त्री का मन है, जो प्रणय की भीख माँगता फिरता है, अपने घर का सङ्कट जानकर कि मेरे भाई मेरे सुख और सुविधा के लिए, मुझे रानी वनाने के लिए अपने सम्मान का त्याग कर रहे हैं, जिससे वड़ा त्याग पुरुष के लिए कोई दूसरा होता नहीं, यही चाहती थी मैं कि यह संयोग वैठ जाय। वह मुझे खींचना चाहता था अपनी चटक-मटक से, अपने उतावलेपन से, शिक्षा और धन के दम्भ से। किसी न किसी वहाने मैं वरावर उसके पास रहूँ, मुझे देखता रहे, मुझसे वातें करता रहे। मेरे भीतर उसके लिए कुछ छिपा न रहे, कुछ रहस्य न रहे। दो ही दिन में वह सव कुछ जान जाय, उसकी सारी भूख मिट जाय।

मोहन—कुछ न कहो, अव मैं सिर पीट लूंगा।

शीला—इतने सीधे हो भैया तुम! तुम्हारे मित्र के हाथ में लेंसेट वरावर रहता है। वे सव कहीं वहुत गहरे चीर कर देखते हैं, वहाँ क्या है? और तुम उनके ऊपर की चमक-दमक में यह नहीं देख सके कि भीतर कितना विष है। उनके सिर पीटने से नहीं वनेगा। हँस सको तो उनकी मूर्खता पर हँसो। पुरुष का गुण न धन है न रूप, न विद्या, कहाँ तक वह अपने को रोक पाता है, कितना संयम उसमें है?

मोहन—ये कैसी आहट है? आ रहे हैं तव वह....शीला, उसका अपमान न करना। तुम्हारे घर आया है कम से कम इतना...।

शीला—आधी बात कहते हो। कहो, फिर मैं क्या कहूँगी ? अपमान वह स्वयं अपना करते हैं। मैं उनका अपमान क्या करूँगी। पुरुष जब स्त्री का शिकार करता है, सम्मानित नहीं रह जाता। फिर भी विश्वास करो, मैं अपने पर अंकुश रखूँगी।

(निरंजन का प्रवेश। अवस्था प्रायः तेईस वर्ष। लम्बा छरहरा गोरा शरीर। नुकीली नाक, आँखों पर चश्मा। इस नये युग की वेश-भूषा। प्रभाव की मुद्रा।)

निरंजन—गाड़ी का समय हो गया है, मोहन।

शीला—इस समय आप नहीं जायेंगे। आइए ! बैठिए।

निरंजन—जी, आपके बाबूजी भी यही कह रहे हैं, लेकिन अब चला ही जाना ठीक है।

शीला—बैठिये भी, चले जाने वाले को कब किसने रोका है ?

निरंजन—आप भी बैठें। (मेज के पास कुर्सी पर बैठता है। मोहन निकल जाता है।) तुम कहाँ जा रहे हो मोहन ?

मोहन—(नेपथ्य में) तुम्हारा सामान ठीक कर दूँ।

शीला—आप मुझसे अकेले में बातें करना चाहते थे। यह अवसर ठीक है।

निरंजन—इसलिए कि आप मेरी छाया से भागती रही हैं। बोलिए......।

शीला—......मायके में कोई भी लड़की आप जैसों से भागेगी। ऐसा न होना संकट की सूचना है, इतना भी नहीं जानते आप ?

निरंजन—उँह......आपके विचार बड़े पुराने हैं। नया भारत अब आप लोगों से कुछ और चाहेगा।

शीला—भारत वही पुराना है। आप उसे नया बना कर उसकी प्रतिष्ठा बिगाड़ रहे हैं। यह क्या चाहता है उसको देखिए, उसको समझिए। जो आप चाहते हैं, उसका आरोप इस पुराने भारत पर न कीजिए।

निरंजन—इस युग का......इस बीसवीं सदी का स्वतन्त्र भारत

पुराना है ? पुराने विचारों में, पुरानी रूढ़ियों में जकड़े रहने का समय अब लद गया। आप देहात में हैं। शहर में रहतीं, वहाँ की लड़कियों को देखतीं, सिनेमा और स्त्रियों के समाज में जातीं......

शीला—कहीं भी रहती...कहीं भी जाती फिर भी मेरी आंखों में भारत नया नहीं लगता। इसकी चाल कभी रुकी नहीं, न यह कभी मरा, न मिटा। एक सांस भी इसकी कब बन्द हुई, बतायेंगे ? इसने कितने देशों को जन्म लेते और मरते अपनी आंखों देखा है। इसकी आयु की, इसकी संजीवनी शक्ति की, प्रतिष्ठा कीजिए।

निरंजन—अरे...आप बड़ी भावुक हैं।

शीला—इसकी पताका जब प्रशान्त से लेकर भूमध्य सागर तक उड़ी थी उस समय अपनी कन्याओं से जो इसने न चाहा, अब न चाहेगा।

निरंजन—यह कविता की भाषा मैं नहीं समझ रहा हूँ।

शीला—आप जिस सांचे में ढल चुके हैं उसमें इस पुराने देश को न ढालिए। इसका अपना सांचा है, वर्ना तो अभी भी समय है, उसमें फिर से अपने को ढालिए। जिस देश की रूढ़ियाँ मिट जाती हैं वह देश भी मिट जाता है।

निरंजन—आप तर्क करना जानती हैं। मैं तो समझे हुए था कि...

शीला—जो कहें आप...।

निरंजन—फिर भी जिसके साथ जीवन भर रहना हो, उसे ठीक से जान लेना...मैं ही नहीं, कोई भी शिक्षित व्यक्ति चाहेगा।

शीला—जो आप सा सजग रहेगा। थोड़ी देर किसी लड़की से बातें कर उसके भीतर का सब कुछ खोल कर देख लेना। इस काम में वह बराबर ठगा जाता है फिर भी उसे चेत नहीं होता।

निरंजन—भावी पत्नी को ठीक से देख लेना, समझ लेना, ठगा जाना है ? कैसी बेढंगी बात आप कह रही हैं ?

शीला—आपकी अवस्था का पुरुष जब मेरी आयु की लड़की के पास जाता है, अन्धा हो जाता है, और कहीं संयोग से लड़की सुन्दरी हुई तो वह उन्मत्त हो उठता है। अन्धा क्या देखेगा ? उन्मत्त क्या समझेगा ? इसलिए अपने आप न देख कर किसी दूसरे से दिखा लेना

आप जैसों के हित की बात है। आपको साहस कैसे हुआ कि यहाँ तक चले आये मुझे देखने के लिए ?

निरंजन—आपके भाई ने मुझसे प्रार्थना की......

शीला—उनकी प्रार्थना पर आप कुएँ में कूदेंगे। साँप उठाकर गले में लपेट लेंगे। भावी पत्नी, पत्नी कब और कहाँ भावी हुआ करती है ? जब तक वह आपकी हो न जाय, आप उसके न हो जायँ। (हँसती है)

निरंजन—तो इसीलिए आप बुलाने पर भी मेरे पास नहीं आयीं। मुझसे भागती फिरीं। मैं समझता था, देहात की लड़की होने से आप लजा रही हैं। आप पर्दे में रहना चाहेंगी।

शीला—जी......अकेले एक पुरुष में जिस स्त्री का प्राण रमा जाता है वह किसी न किसी प्रकार के पर्दे में रहना ही चाहती है। लुक-छिपकर आप मुझे देखने की चेष्टा करते रहे। बार-बार नाम लेकर आपने बुलाया......दो बार मैं गयी भी, फिर भी आपका सन्तोष इतने से नहीं हुआ। मैंने देखा, आप संयम छोड़ रहे हैं, आपका स्वभाव बिगड़ रहा है।

निरंजन—मेरे स्वभाव की आलोचना करने का अधिकार आपको नहीं है। मैं यहाँ बुलाने पर आया था, आप जानती हैं। इस भभकती लू, धधकते आकाश में मैं नैनीताल होता।

शीला—मेरे लिए आपको कष्ट हुआ इसकी मैं कृतज्ञ हूँ। आपके स्वभाव की आलोचना मैं न करूँ, आपका मन करेगा, समाज की मान्यताएँ करेंगी, और अब मुझे भी क्यों नहीं है यह अधिकार महोदय ? जितना कोई विवाह के बाद अपनी पत्नी से पाता होगा, उतना आप मुझसे पहले ही ले लेना चाहते थे। सब कुछ मैं आपको अभी दे देती तो फिर बाद के लिए क्या रखती ? और न सही, मानसिक लगाव तो आप पैदा कर चुके हैं। अब आप जब किसी दूसरी लड़की को देखने जायेंगे, आपके मन में मैं फूल उठूँगी। आँखों में लहरा जाऊँगी। मुझे पाकर आपकी आँखें उस बेचारी को देख न पायेंगी। पहले और भी कोई लड़की देख चुके हैं आप ?

निरंजन—इससे आपका मतलब क्या है ? देखा या न देखा हो ? मैंने कष्ट दिया आपको, क्षमा करें, मैं अब चलूं। (कुर्सी से खड़ा होता है। शीला बढ़कर उसका हाथ पकड़ लेती है।)

शीला—रुकिए, अभी आप नहीं जायेंगे। अभी आपने ठीक से न मुझे देखा, न समझा, और फिर रूठकर आप चले जायें। इस देश की सबसे बड़ी पत्नी की कामना में आप यहाँ आये थे और लेकर जायेंगे क्या ?

निरंजन—आप तो मुझे चक्कर में डाल रही है ? आपको समझना बड़ा कठिन काम है। कहिये, फिर न जाऊँ तो क्या करूँ ?

शीला—पुरुष की समझ में स्त्री कभी नहीं आती। मुझे आप जितना ही अधिक समझना चाहेंगे, मैं आपसे उतनी ही दूर होती जाऊँगी। सन्देह का भार पुरुष ढोता है, स्त्री विश्वास चाहती है।

निरंजन—तब ?......

शीला—यह अवसर न दीजिए कि स्त्री की जीभ चले, वह तर्क करे, प्रगल्भा और वाचाल बने। पुरुष समुद्र की थाह लगा लेगा। स्त्री में वह बराबर डूबता आया है।

निरंजन—मनुष्य की सीधी बोली में कहिए। संकेत की यह भाषा मैं नहीं जानता।

शीला—तब आपने इतना सचेत, इतना सजग, क्यों रहना चाहा ? कुमारी के सपने न तो पुरुष के धन के, न विद्या के, न रूप के होते हैं। यहाँ कुछ दूसरा ही रहता है।

निरंजन—(विस्मय में) तो फिर कह दें, मैं भी जान लूँ।

शीला—कह दूँ ? आपको विश्वास न होगा।

निरंजन—कहें भी ? विश्वास न करना मेरा अभाग्य होगा।

शीला—सच कहते हैं ?...अपने मन को टटोल लीजिए। सन्देह की छाया भी वहाँ न हो।

निरंजन—मुझे अधिक लज्जित न करें।

शीला—स्त्री पुरुष की असावधानी को, उसके अल्हड़पन को प्रेम करती है जिसमें वह अपने प्राण से भी सजग नहीं रहता, संकट से जूझता

चलता है। जिसमें वह ऐसी गहरी नींद सोता है कि स्त्री को अवसर मिले कि वह उसे प्राण में उठा ले, आँखों में बन्द कर ले। कल रात भर आप जागते रहे। अभी यह दशा है तो आगे क्या होगा ?

निरंजन—(विस्मय में) ऐं...कैसे जानती हैं आप कि मैं रात भर जागता रहा ?

शीला—हम कैसे जानती हैं ? इस चिन्ता में न पड़ें। आकाश के तारे कहते हैं हमसे, पेड़ की पत्तियाँ कहती हैं, हमारे कान अधिक सुनते हैं। हमारी आँखें अधिक देखती हैं। आप ही कहें, रात भर आप जगे रहे या नहीं ? आप जो कहेंगे, मैं वही मान लूंगी।

निरंजन—ठीक कह रही है...रात मुझे नींद नहीं आई।

शीला—लेकिन क्यों ? क्या इस आयु में आपको कंकड़ पर नींद न आ जानी चाहिए ? क्या यह आपके मन का रोग नहीं है ? यह देश नया नहीं पुराना, वृद्ध हो चुका है। यह चाहता है कि इसमें जो पैदा हों, इसी की तरह लम्बी आयु के हों। उनके बाल पक कर हिमालय की आभा पैदा करें। आपके नींद न आने का अर्थ है कि आप इस देश के प्रति ईमानदार नहीं हैं। नये के फेर में न पड़ कर पुराने को समझें, आपके लिए, आपके समाज के लिए इसी में कल्याण है।

निरंजन—तो आपके कहने का मतलब है कि मुझे आपको देखने या बातें करने का...

शीला—जी...आज मैं आपके सामने हूँ...आप मुझे इस रूप में देख रहे हैं...कहीं मैं बीमार पड़ जाऊँ...कोई अंग सूना पड़ जाय...एक आँख फूट जाय तब तो आप मुझे छोड़ देंगे ?

निरंजन—मैं इतना नीच हूँ ? क्या कह रही हैं आप यह ? मेरे भीतर भी हृदय है, उसमें प्रेम और कर्तव्य दोनों हैं।

शीला—फिर देखने या बातें करने में क्या धरा है ? सन्देह से जहाँ आरम्भ है, वहाँ अन्त भी सन्देह है। किसका साहस होगा कि अन्धी या लँगड़ी कन्या का प्रस्ताव भी आपसे करेगा ? अपने मित्र का विश्वास

आप न कर सके, किसी दूसरे को भेज देते और मुझे देखते तब जब वह आपका अधिकार होता।

निरंजन—(मुस्करा कर) विवाह के बाद...

शीला—तब क्या, और तब मैं आपके चारों ओर ऐसे भाँवर देती जैसे यह पृथ्वी सूर्य की भाँवरी देती है। उसके लिए आपको प्रयत्न न करना पड़ता। आपके आकर्षण में बँधकर मैं ऐसी विवश रहती जैसे यह पृथ्वी सूर्य के आकर्षण में विवश है।

निरंजन—शीला...इधर देखो...

शीला—अभी नहीं, पहले वह आकर्षण...और तब इसके लिए मैं विवश रहूँगी।

निरंजन—तब मैं कह दूं तुम्हारे बाबूजी से ?

शीला—कह दो...लेकिन इस नये युग का नया पुरुष यह सब कहने-कहाने में रूढ़िवादी बनेगा।

निरंजन—तो तुम अभी आघात करती चलोगी ?

शीला—जब तक हम दोनों दो व्यक्ति हैं।

निरंजन—दो व्यक्ति तो हम बराबर रहेंगे।

शीला—यह नया मत है। पुराने में दो व्यक्तियों के भेद और साहस का मिट जाना ही प्रणय है। यहाँ न रुचि-भेद है, न बुद्धि-भेद। शंकर का आधा शरीर इसीलिए पार्वती का है।

निरंजन—यह सब तुम कहाँ जान गयीं ?

शीला—अपने संस्कार से। सब कुछ पढ़ा ही नहीं जाता, कुछ अनुभव भी किया जाता है।

निरंजन—कैसे कहूँगा, मुझे तो लाज आ रही है कल तक यह जितना सरल था अब नहीं है। मैं यहाँ अपने मित्र का उपकार करने आया था और अब यह मेरे साथ उपकार हो रहा है।

शीला—बस, वही पुरानी बात। कन्या के प्रार्थी यहाँ बराबर पुरुष होते रहे हैं। तुम्हें भी वही करना पड़ा, इस नये युग, इस नयी सभ्यता में भी। तुम्हें भी दान लेना पड़ेगा किसी भी कन्या का।

निरंजन—और वही दान मेरा सबसे बड़ा धन होगा। शीला, मैं भूला था। अब मुझे नींद आयेगी, ऐसी गहरी कि तुम...

शीला—गला क्यों भर आया ? इतने अधीर अभी...

निरंजन—सम्भवतः हम लोगों का पूर्व-जन्म का संयोग था...

शीला—निश्चित। जीवन भर का सुख और सन्तोष इसी विश्वास पर टिकता है।

निरंजन—(उसकी उँगलियां पकड़ कर) इस एक दिन में मेरा सारा जीवन समा गया इसके पहले जो कुछ था और बाद को जो कुछ होगा।

शीला—सब इसी एक दिन में मिल जायगा, क्यों ?

निरंजन—इसी एक दिन में...

(दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं, पर्दा गिरता है)

उदयशंकर भट्ट

श्री उदयशंकर जी भट्ट का प्रादुर्भाव हिन्दी नाट्य-साहित्य में तब होता है जब कि सामान्य स्वरूप-गत मान्यताएँ स्पष्ट हो गई थीं, हिन्दी नाट्य-साहित्य का रूप निश्चित सा हो गया था, राहें बन गई थीं, समाज की अभिरुचि और आवश्यकताएँ लेखक के सामने स्पष्ट दिखाई देती थीं। न तो इन्हें डा० वर्मा की भाँति एकांकी-कला को स्पष्ट करने का काम अपने हाथ में लेना पड़ा, न उसकी शास्त्रीयता के लिए इन्हें कलम उठानी पड़ी और न इतिहासगत अन्वेषण को ही नाट्य-साहित्य की कथावस्तु के लिए अपनाना पड़ा है। पौराणिक गाथाओं, इतिहास-गत सत्य और समाज की समस्याएँ ही लेखक को इतनी भली मालूम हुई कि एक ईमानदार साहित्य की भाँति उसने अपनी भावना को इसी पृष्ठ-भूमि में पनपने दिया है। न तो प्रसाद जी की अन्वेषण-प्रवृत्ति इन्हें अपनी ओर खींच सकी है और न लक्ष्मीनारायण मिश्र का बुद्धिवाद ही। भट्ट जी ने सांस्कृतिक चेतना तथा अस्तित्व-परीक्षण को अपना उद्देश्य बनाया है और इसी कारण उन्होंने इतिहास की जानी-अनजानी कथाओं को उसी रूप में स्वीकार कर लिया है जिस रूप में वे आज हमारी संस्कृति से सम्बन्धित मानी जाती हैं। अस्तित्व-परीक्षण के लिए भट्ट जी ने समाज के भीतर घुसने का सफल प्रयास किया है जिसके फलस्वरूप उनके नाटकों में समाज का खोखलापन, आडम्बर या पाखण्ड का पर्दाफाश हो गया है। भट्ट जी के एकांकी नाटकों को देखकर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि कथावस्तु की दृष्टि से भट्ट जी ने प्रागैतिहासिक युग की मान्यताओं से लेकर समसामयिक विचारधाराओं तक का बहुत विस्तृत क्षेत्र सफलता के साथ अपनाया है।

भट्ट जी ने एकांकी क्षेत्र में विभिन्न एवं सफल प्रयोग किये हैं।

जहाँ उन्हें तर्कपूर्ण अनुसंधान का लोभ-संवरण न हो सका है, वहाँ स्वयं मनु-शतरूपा की कथा को अपने लिए चुना है, मध्ययुग में आकर कालिदास, सौदामिनी, शशि लेखा के कथानकों को लेकर अपनी ऐतिहासिक प्रवृत्ति का परिचय दिया है और आज के युग में आकर भट्ट जी ने समाज की मूलभूत समस्याओं को आगे रखकर उस पर सफल व्यंग्य किया है। इतना ही नहीं, वरन् भट्ट जी ने एकांकी के रूप को लेकर भी विभिन्न प्रयोग किये हैं जिसके फलस्वरूप लोग एकांकी-साहित्य के प्रतीक-रूपक, काव्य-रूपक तथा भाव-नाट्य रूपों से परिचित हो सके हैं। निस्सन्देह हिन्दी एकांकी क्षेत्र के लिए भट्ट जी की यह अपनी देन कही जा सकती है।

भट्ट जी यथार्थवादी हैं। आप आदर्श का स्वागत तभी तक करना चाहते हैं, जब तक कि वह जीवन को गतिशील बनाने में सक्षम बना रहे, उसे उन्मुख करता रहे। इसी कारण भट्ट जी के एकांकी जन-जागरण का सन्देश प्रस्तुत करने के सफल प्रयोग कहे जाते हैं। उनमें मानव के प्रति सहज और सत्य निष्ठा है, मानवता के प्रति श्रद्धा है, और इसी कारण उनके एकांकी समाज को उन्मुख करने के प्रयोग स्थल बन सके हैं।

यदि भट्ट जी के समस्त एकांकी एक साथ देखे जायें तो स्पष्ट हो जाता है कि उनमें मूलतः तीन प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं : (१) सामाजिक विभीषिका के चित्रण की प्रवृत्ति (२) जन-जागरण के सन्देश की प्रवृत्ति, और (३) सांस्कृतिक चेतना के प्रतिपादक की प्रवृत्ति। सभी प्रवृत्तियों के प्रतिपादन के लिए भट्ट जी ने व्यापक-विस्तारमयी उदार-चेतना का प्रश्रय लिया है, संकुचित भावनाएँ भट्ट जी के नाटककार-व्यक्तित्व को प्रभावित नहीं कर पाई हैं।

भट्ट जी ने अपने एकांकियों में रंग-मंच की उपेक्षा नहीं की है। साथ ही उन्होंने पाठक की सुविधा के लिए कुछ, उलझे हुए, एकांकियों से पहले कथावस्तु का संकेत कर दिया है। अभिनय को ध्यान में रखते हुए अपने एकांकी नाटकों की 'रंग-सूचनाएँ' भी उन्होंने दी हैं जिससे कि अभिनय के समय रंगमंच कथावस्तु के अनुकूल हो सके।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भट्ट जी मानवता के पुजारी हैं, भूत, वर्तमान तथा भविष्य—तीनों ही उन्हें प्रिय हैं। व्यंग्य उनका अस्त्र है, इतिहास और समाज उनकी क्रीड़ा-भूमि है और पात्र उनका समवर्ती मानव है।

भट्ट जी की प्राप्त कृतियों में अभिनव एकांकी, स्त्री का हृदय, समस्या का अन्त, आदिम-युग, विश्वमित्रा और भाव-नाट्य, अन्धकार और प्रकाश, पर्दे के पीछे, क्रान्तिकारी, एकला चलो रे आदि उल्लेखनीय हैं।

सत्य का मन्दिर

वकील—तो उपदेशक जी, क्या आप विश्वास करते है कि सत्य के प्रचारक स्वामी जी अब नहीं रहे ?

उपदेशक—वकील साहब, आप विश्वास की बात करते हैं, मैंने इन आंखों से उन्हें सशरीर स्वर्ग जाते देखा है ।

डाक्टर—किस जगह ?

उपदेशक—नदी के किनारे डाक्टर । उस समय लगता था, वे हम लोगों के आचरण से बहुत दुखी हो चुके हैं । कोई भी उनकी बात नहीं सुनता । जो सुनता है वह हँसी उड़ाता है, जो देखता है उन्हें पागल समझता है । वे महाराज दुखी संसार को कल्याण का मार्ग दिखाने आये किन्तु किसी ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया ।

वकील—दो-एक बार देखा तो उन्हें मैंने भी । एक मामूली अवस्था में लँगोटी लगाये सर्दी-गर्मी की परवा किये बिना गलियों, बाजारों में सत्य-सत्य चिल्लाया करते थे ।

डाक्टर—मुझे अपने मरीजों से ही फुर्सत नहीं मिलती थी । एक दिन एक मरीज ने बातों-बातों में सुनाया कि एक साधु सत्य-सत्य चिल्लाता न जाने क्या कहता फिरता है । लेकिन यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि एक आदमी देह के साथ स्वर्ग कैसे जा सकता है ? तो स्वर्ग कोई ऊपर है क्या ?

उपदेशक—आप हैं डाक्टर, शरीर का इलाज करने वाले, आपको आत्मा का क्या ज्ञान । योगी लोग तो सब कुछ कर सकते है । जहां चाहें उड़ जायें, जिसके सामने चाहें जैसा वैभव उपस्थित कर दें । जंगल को शहर बना दें, शहर को जंगल कर दें । ऋद्धि-सिद्धि उनके पीछे भागती है, डाक्टर साहब ।

वकील—लेकिन क्या इनकी भी ऋद्धि-सिद्धि आपने देखी ?

उपदेशक—मैंने स्वयं अपनी आंखों से एक बुढ़िया के इकलौते बच्चे को, जो मर गया था, श्मशान से लौट कर घर आते देखा है, वकील साहब ।

सेठ—तुम मेरे यहां कितने दिनों से कथा करते आ रहे हो। मुझे तो, उपदेशक जी ! तुमने नहीं बताया ? नहीं तो मेरा बच्चा भी क्यों मरता ? मैं स्वामी जी के चरणों पर गिर कर उसे बचा न लेता। शिव-शिव, कितनी गलती हो गई।

वकील—सेठ साहब, ऐसा ही था तो मेरे एक मुवक्किल का मुकदमा जो दो साल से लटक रहा है उसके बारे में मैं स्वामी जी से पूछ न लेता। अकेले बीस हजार का तो मेरा नुकसान हुआ। मुवक्किल तो बेचारा अभी तक परेशान है। उसका भी कम से कम पचास हजार का तो अब तक नुकसान हो ही चुका होगा। बड़ी गलती हुई सचमुच। हमने समझा कोई पागल है। ऐसे बहुत फिरते हैं। तो क्या सचमुच वे चले गये ?

उपदेशक—क्या मैं झूठ कह रहा हूँ। मैंने तो उसी दिन से सत्य बोलने की प्रतिज्ञा कर ली है। मैं समझता हूँ, समझ रहा हूँ कि हमने बड़ी गलती की कि भगवान सत्यरूप की बातों पर ध्यान न दिया। ऐसे लोग कभी-कभी समय से अवतरित होते हैं, वकील साहब।

ठेकेदार—कैसे लोग ?

उपदेशक—ओ हो, आइये ठेकेदार साहब, आपने भी कुछ सुना भगवान के सम्बन्ध में ?

ठेकेदार—हाँ, उपदेशक जी, सुना है। अभी सुनकर आ रहा हूँ कि स्वामी जी ने जीवित समाधि ले ली है।

डाक्टर—कहाँ, ठेकेदार साहब ?

ठेकेदार—नदी के जल में, डाक्टर साहब, नदी के जल में। पचासों लोगों के सामने।

डाक्टर—उपदेशक जी, आप तो कहते थे कि...

उपदेशक—मैं नहीं मानता, मैंने उन्हें इन आँखों से सशरीर स्वर्ग जाते देखा है।

ठेकेदार—गलत बात है जिस समय स्वामी जी ने समाधि ली उस समय मैं घाट पर था। मैं घाट की मरम्मत करा रहा था। मेरे पास उस समय कम से कम पचास से कम क्या मजदूर होंगे। हम सब खड़े-खड़े देखते रहे। मैंने सोचा भी कि स्वामी जी को डूबने न दिया जाय, उन्हें पकड़ कर बाहर कर दिया जाय। इसी बीच उन्होंने जो हम लोगों की ओर देखा तो उससे हम लोग काफी डर गये थे। मजदूरों ने चिल्लाकर कहा, "महात्मा हैं, संत हैं, इन्हें न छेड़ो।" वाहा, सचमुच बड़े भाग्य से ऐसे महात्माओं के दर्शन होते हैं। जिस स्थान पर उन्होंने समाधि ली हैं, मैं सोचता हूं, उस स्थान पर एक पक्का चबूतरा बनाऊँ।

उपदेशक—वही जगह, वही न, घाट से बांये हटकर पूर्व की तरफ। अजब माया है उनकी, किसी को वे जल में समाधि लेते दिखाई दिये, किसी को सशरीर स्वर्ग जाते। उनकी माया कौन जान सकता है ठेकेदार साहब! मुझे तो सचमुच वे सदेह स्वर्ग जाते दिखाई दिये थे। मैं उस समय घाट पर एक किनारे बैठा पूजा कर रहा था। शाम का समय था, झुटपुटे का।

ठेकेदार—हाँ, भाई, शाम का समय था। मजदूर जाने की तैयारी में थे। मैं उनके काम का तखमीना लगा रहा था। मैंने ध्यान नहीं दिया कि यह होने वाला है। वह तो अचानक पानी में खिसके तो एक मजदूर चिल्लाया, हम लोग वहाँ पहुँचे। पहुँचे कि वह गायब, कहीं पता तक न लगा कि कहाँ गये। वे अवतारी पुरुष थे, भाई साहब! बड़े भाग्य हमारे।

वकील—अभी तो आपने कहा ठेकेदार साहब कि उन्होंने आपकी ओर देखा तो आप डर गये।

ठेकेदार—(चिढ़कर) वकील साहब यह कोर्ट की बहस नहीं है कि जिधर चाहा उधर केस मोड़ दिया। और साहब, उनके बैठे-बैठे पहले ऐसा ही लगा था।

उपदेशक—ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त महात्मा के सम्बन्ध में कोई एक बात थोड़े ही रहती है, वे तो अनन्त विभूतिमान होते हैं। अब यहीं लीजिए कि मुझे सदेह स्वर्ग जाते दिखाई दिये और ठेकेदार साहब और इनके आदमियों को जल में समाधि लेते।

आगन्तुक—डाक्टर साहब! डाक्टर साहब! चलिये न दुकान मरीजों से घिर गई है।

डाक्टर—हाँ चलो, अरे रामधन, तुमने भी कुछ सुना, उन स्वामी जी ने जल में समाधि ले ली। यहाँ, यही चर्चा हो रही है।

रामधन—क्या सच कह रहे हैं, उपदेशक जी! मैंने तो उन्हें...

उपदेशक—हाँ, मैंने उन्हे सशरीर समाधि लेते देखा है, ठेकेदार साहब ने जल में समाधि लेते।

रामधन—आप नहीं जानते, बाबाजी की मेरे ऊपर बड़ी कृपा थी। एक बार मैंने आते हुए जब उनकी चरण-धूलि लेनी चाही, तो वो लम्बे पैर बढ़ा कर आगे निकल गये। मैंने दूर से ही हाथ जोड़ दिये। आज भी उनके दर्शनों के लिए राह में खड़ा रहा, अब चला आया, दुकान का काम था। डाक्टर साहब की लोग प्रतीक्षा कर रहे थे, इसलिए।

सेठ—उपदेशक जी, हैरानी की बात है, तुमने उन स्वामी जी के बारे में एक बात देखी, ठेकेदार ने दूसरी बात और डाक्टर के कम्पाउण्डर ने तीसरी बात। मेरा ख्याल है स्वामी जी के लिए एक मन्दिर बनवा ही दिया जाये। मैं मन्दिर के लिए दस हजार देता हूँ।

डाक्टर—मुझे ऐसा लगता है सेठ जी कि स्वामी जी की जल-समाधि और देह के साथ ऊपर उड़ने या स्वर्ग जाने की बात...

रामधन—लेकिन...खैर, इतना तो मानना पड़ेगा कि हैं वो सिद्ध महात्मा। एक दिन मैंने उनसे घर चलकर भोजन की प्रार्थना की, तो उस दिन जब मैं खाना परोस कर पानी लेने भीतर गया तो बाहर आकर देखता क्या हूँ कि वो एक कुत्ते को भी अपने साथ खिला रहे हैं। मैंने कहा, "महाराज, यह क्या कर रहे हो," तो बोले, "बच्चा! इसमें भी हमारी आत्मा है।"

डाक्टर—लेकिन कुत्ते के दाँतों में जहर होता है। यह तो बहुत बुरा

है। अनहाइजिनिक। अव्वल तो आत्मा-फात्मा कोई चीज नहीं है, और हो भी, तो इस तरह जानवरों के साथ खाना......।

वकील—जहर का असर कमजोरों पर होता है।

उपदेशक—भगवान् शिव ने हलाहल पी लिया, और कोई तो पीकर देखे। वह टें बोल जाय। डाक्टर साहब यह तो श्रद्धा की बात है। इन्हीं स्वामी जी के क्या कम चमत्कार हैं, बीसियों है जो मैंने खुद अपनी आँखों से देखे हैं। एक बार मरता एक मरीज अच्छा कर दिया, एक गरीब की लड़की की शादी करा दी, एक औरत को बच्चा होने का आशीर्वाद दिया तो बाँझ के बच्चा हो गया!

सेठ—जरूर-जरूर, भगवान् के भगत क्या नहीं कर सकते। भगत के वश में हैं भगवान्। नरसी भगत, नन्दामाई की बात गलत थोड़े ही हो सके हैं उपदेशक जी!

उपदेशक—ठीक कहो तो सेठ जी, हमारा भी तो अब कोई कर्तव्य है। मेरा तो कहना है, ऐसे महात्मा संसार में बार-बार नहीं आते। यह हमारा सौभाग्य है कि इस नगर में एक ऐसा महात्मा हुआ।

वकील—फिर आखिर निश्चय क्या हुआ? मुझे भी कचहरी जाना है, देर हो रही है। आज एक बड़ा धोखेधड़ी का केस है।

डाक्टर—हाँ, मुझे भी देर हो रही है।

उपदेशक—मेरा प्रस्ताव है, स्वामी जी के नाम पर एक मन्दिर बनवाया जाय। नाम हो सत्य का मन्दिर क्योंकि उन्होंने जीवन भर सत्य का प्रचार किया है। दया का उपदेश दिया है। अहिंसा की बातें कही हैं। वे वीतराग महात्मा थे। न किसी से कुछ लेना न देना। वे जीवन-मात्र के उद्धार के लिये उपदेश देने आये थे इस संसार में। उस मन्दिर में उनके प्रवचन संगमरमर की शिलाओं पर खुदवाये जावें। सेठ जी, दस हजार देने को तैयार है। कुछ और भी दानी बन्धु दे दें। क्यों डाक्टर साहब?

डाक्टर—हाँ, बुरा नहीं है। यदि उसके एक हिस्से में हस्पताल होगा

तो मैं सुबह-शाम एक-एक घण्टे आकर मरीजों को फ्री देख आया करूँगा।

वकील—बिल्कुल ठीक है। परोपकार का काम है। क्यों डाक्टर साहब ? तो ट्रस्ट बना दिया जाये ?

डाक्टर—हां और क्या।

उपदेशक—मैं इसके विरुद्ध हूँ। स्वामी जी के नाम के मन्दिर का अर्थ है उनके उपदेशों का प्रचार, जिसके द्वारा संसार का कल्याण हो सकेगा। वह ट्रस्ट-फस्ट के बन्धन में नहीं रहना चाहिये। जैसे और मन्दिर, मठ, आश्रम हैं, वैसा ही एक वह भी बने। मैंने महाराज के उपदेशों के प्रचार का भार अपने ऊपर लिया है। मैं गृहस्थी छोड़कर संन्यास लेने की सोच रहा हूँ। सोच क्या रहा हूँ, मैंने बीड़ा उठाया है कि उनका दीक्षित शिष्य न होने पर भी उनके धर्म का प्रचार करूँगा। आज संसार में बड़ी अशान्ति है। कलह, छल, कपट, राग-द्वेष जैसे शत्रुओं ने हमारे जीवन को विषमय बना दिया है, ग्रस लिया है। सत्यरूप भगवान ने हमारी आज आँखें खोल दी है। उन्हीं के धर्म का प्रचार करना मेरे जीवन की उपासना होगी, क्यों सेठ जी ?

सेठ—नहीं वकील साहब, ऐसे-ई है। अब तुमसे क्या छिपाव है। पिछले साल की तीस हजार बोरी खत्ती में पड़ी हैं। भगवान स्वामी कृपा करें, कुछ और मँहगा हो जाय तो सत्य मन्दिर बना ही समझो, और भी दो एक काम रुके पड़े हैं।

वकील—क्या भाव खरीदा था ?

सेठ—अजी क्या खरीदा था, ऐसे ही भर लिया।

वकील—फिर भी ?

सेठ—अब तुमसे क्या कहूँ, बारह रुपये खरीदा था फसल में। मैं सोचूं हूँ चौबीस हो जाये तो कहीं काम चले। इसीलिए रोक रखा है।

डाक्टर—तीस हजार बोरी ?

उपदेशक—हो जायेगा सेठ जी। भगवान् सत्य स्वामी की कृपा

अवश्य होगी। उन्हें क्या मालूम नहीं है कि सेठ धर्म के काम में इतना रुपया खर्च कर रहे हैं।

सेठ—उनके मन्दिर बनाने का काम मेरे जिम्मे रहा। चूना, गारा ईंटें लाकर इकट्ठी कर दूंगा।

उपदेशक—आप भी क्या धर्मात्मा हैं ठेकेदार साहब, आपने गुरुदेव को समाधि लेते देखा है, वैसे भी आप समाधि बनवा रहे थे, मन्दिर भी सही। मेरे ख्याल से, जहाँ भगवान ने समाधि ली है, वहीं नदी के तट पर मन्दिर बनवाया जाये।

वकील—बिल्कुल ठीक है। मैं नगरपालिका के अध्यक्ष से आज ही मिलूंगा और बात करूँगा। पर मेरा ख्याल है सेठ जी, बिना ट्रस्ट के लोगों का विश्वास न तो चन्दा माँगने पर लगता है और न वह अच्छा ही लगता है। मैं उपदेशक जी के त्याग की प्रशंसा करता हूँ, पर इन लोगों का मुंह बन्द करने का तुम्हारे पास कोई साधन भी तो हो।

रामधन—वाह, वाह, वाह! महाराज जीवन भर लँगोटी लगाये घूमते रहे तब तो उनकी बात किसी ने न सुनी, अब मन्दिर बनेगा। वाह, वाह, वाह......!

सेठ—चुप रह, तू क्या जाने, (वकील साहब से) तो क्या हर्ज है। ट्रस्ट भी बन जायेगा। दस हजार तो मेरा लिख लो।

वकील—लिखो उपदेशक जी, सेठ जी ट्रस्ट के प्रधान रहे।

उपदेशक—ठीक (लिखता है), उप-प्रधान वकील साहब?

वकील—उप-प्रधान पद के लिए मैं नगरपालिका के अध्यक्ष का नाम पेश करता हूँ। इससे कई फायदे होंगे, सेठ जी! एक तो जमीन मिलने में दिक्कत नहीं होगी, दूसरे जरूरत पड़ने पर चन्दा भी इकट्ठा किया जा सकता है।

ठेकेदार—बिल्कुल सही सलाह है सेठ जी। लिखो उप-प्रधान, क्या नाम है उनका?

डाक्टर—राम मनोहर लाल कूचानी।

उपदेशक—मन्त्री का काम मैं सँभालूंगा, क्यों सेठ जी?

वकील—मेरा ख्याल है उप-प्रधान तीन हों। उनमें एक ठेकेदार साहब, एक डाक्टर साहब, अपने ये बड़े काम के आदमी हैं, बड़े दयालु, परोपकारी।

ठेकेदार—फिर तो मन्त्री के लिए वकील साहब का नाम ही ठीक है। उपदेशक जी आप तो हैं ही ? करना-धरना सब आपको है। आप रहें उप-मंत्री।

सेठ—कोषाध्यक्ष का नाम लिखो सेठ हरजस मल। वह मेरा बेटा भगवान का भगत है फिर जो कमी रहेगी वह भी पूरी कर देगा।

सब—ठीक है।

वकील—मैं आज ही अध्यक्ष से मिलकर जमीन की बात करूंगा।

ठेकेदार—पक्की हो जाने पर मैं सामान का इन्तजाम कर लूंगा, और खुदाई का काम शुरू कर दूंगा। तीन-चार महीने में आप देखेंगे भगवान का मन्दिर तैयार होगा। उद्घाटन के लिए मेरा विचार है किसी बड़े आदमी को कहा जाये, किसी मन्त्री को।

सेठ—ठीक है, एक मंत्री से मेरी जान-पहचान है। मिलकर कह देंगे। उनसे उद्घाटन करवायेंगे।

उपदेशक—यहां मेरा विरोध है सेठ जी, यह सत्यरूप भगवान का मन्दिर है, कोई धर्मशाला या हस्पताल तो है नहीं, मन्दिर में मूर्ति की प्रतिष्ठा बड़े-बड़े विद्वान वेद-पाठियों द्वारा होगी। एक बृहत् यज्ञ होगा जिसमें नगर के सभी गरीबों को भोजन-भण्डारा दिया जायगा। ब्रह्म-भोज होगा। करना हो तो विधि-विधान से करो, यह क्या कि...

सेठ—ठीक है, ऐसे ही होगा पण्डित जी। अपनी सनातन विधि तो चलेगी ही। क्यों वकील साहब ?

वकील—(ऊपरी मन से) हां, फिर भी मेरा ख्याल है...

उपदेशक—आपका कुछ भी ख्याल हो, होगा यही।

ठेकेदार—तो ऐसा करो किसी बड़े आदमी से मन्दिर की नींव रखवाओ। बाकी सब वैसा हो जैसा पण्डित जी कहते हैं।

सेठ—मान लिया, क्यों पण्डित जी, हरे कृष्ण, शिव-शिव।

वकील—आज रात को बैठकर बड़े-बड़े लोगों के नाम लिख लीजिए जिनके पास चन्दा माँगने जाना होगा।

सूत्रधार—काम शुरू हो गया। नगर के बड़े-बड़े आदमियों से चन्दा इकट्ठा किया गया। वकील साहब, जिनकी प्रैक्टिस नाम-मात्र की थी जी तोड़ कर चन्दा इकट्ठा करने लगे। ठेकेदार ने ईंट, चूना, गारे, सीमेंट का इन्तजाम किया। संगमरमर मँगवाया गया। पत्थर की मूर्ति बनवाने उपदेशक जी जयपुर गये। आनन-फानन सत्य के प्रचारक लँगोटी वाले बाबा का मन्दिर बन गया। इसी बीच एक दिन…

❀ ❀ ❀

पत्नी—यह क्या हो रहा है आजकल, ऐसा ही है तो घर में आग लगा दो बच्चों को जहर दे दो, तब संन्यास लो, समझे उपदेशकजी।

उपदेशक—तू क्या कह रही है मेरी पत्नी होकर !

पत्नी—मैं ठीक कह रही हूँ। पिछले दिनों से तुम्हारे रंग-ढंग का कुछ पता नहीं लगता। कहाँ थे इतने दिन ?

उपदेशक—भगवान् की मूर्ति बनवाने जयपुर गया था। वह बन गई है। अब प्राण-प्रतिष्ठा होगी। मैं वहीं रह कर उनकी सेवा किया करूँगा।

पत्नी—सुना है, संन्यास ले रहे हो ?

उपदेशक—हाँ, संन्यास तो लेना ही पड़ेगा, इसके बिना काम भी तो नहीं चलेगा।

पत्नी—फिर यह बच्चे और मैं……?

उपदेशक—तुम लोग जैसे रहते आये हो वैसे ही रहना। वैसे भी अब तू बूढ़ी हो गई है, तुझे अब और चाहिए ही क्या, खाने-पीने का इन्तजाम मन्दिर से होगा ही।

पत्नी—मैं बूढ़ी हूँ, तुम्हें कहते शरम तो आती नहीं। (चिल्लाकर) मैं बूढ़ी हूँ।

उपदेशक—अरी तो मैं क्या कहीं गया हूँ। आता-जाता रहूँगा। (अंटी से निकाल कर) ये ले दो हजार।

पत्नी—कहाँ से आये ?

उपदेशक—रख ले तू बस ।

पत्नी—फिर भी कहाँ से आये ? चुराकर लाये हो या वेईमानी से ? इतना तो कभी नहीं मिला था ।

उपदेशक—भगवान ने दिये हैं ।

पत्नी—भगवान ने मुझे तो कभी ऐसे नहीं दिये । सच बताओ ?

उपदेशक—मुझे मेरे भगवान ने दिये । तुझे तेरा भगवान दे रहा है । कल मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा है । उस समय मैं संन्यास लूंगा । वहीं मन्दिर में रहा करूँगा ।

पत्नी—(व्यंग से) चेलियाँ नहीं रखोगे क्या ? रख लो, पूजा किया करेंगी ।

उपदेशक—तेरी आज्ञा चाहिए ।

पत्नी—मुझे कुछ नही चाहिए । मैं ऐसी ही भली । देखो इतना छल-छन्द मत रचो ।

उपदेशक—यह छल-छन्द है पगली, भगवान की सेवा है; सत्यरूप भगवान की ।

पत्नी—और जब वो सत्य-सत्य चिल्लाते मर गये तब किसी ने नहीं सुनी, किसी ने उनकी बात न मानी । अब उनकी पूजा हो रही है ।

उपदेशक—अरे पगली, संसार का ऐसा ही नियम है । कृष्ण की पूजा क्या उनके समय में उतनी हुई जितनी अब हो रही है ?

(आवाज आती है)

उपदेशक जी हैं क्या ? उपदेशक जी हैं न ?

उपदेशक—देखो, कोई बुलाता है, जाता हूँ ।

पत्नी—सुनो, एक बात बताते जाओ । सन्त लंगोटी वाले बाबा के मन्दिर में तुम्हें भी कुछ लाभ होगा या औरों का ही । वह सेठ, ठेकेदार, वकील, डाक्टर, इसमें क्या मिला ?

उपदेशक—ये बातें इस समय पूछने की नही हैं फिर भी इतनी बात समझ ले कि सेठ की इज्जत बढ़ी है, वह मेम्बरी के लिए खड़ा हो रहा है । ठेकेदार ने मन्दिर   ...मान ने एक बंगला बनवा लिया है ।

वकील के बैंकों का हिसाब बढ़ गया है। डाक्टर की प्रेक्टिस अब दूनी है। सभी ने कमाया है। अच्छा, मैं चला।

पत्नी—(कड़क कर) सुनो, ये रुपये लेते जाओ। मैं नहीं रखूंगी, लेते जाओ। मुझे नहीं चाहिए तुम्हारा पैसा।

(बच्चा आता है।)

बालक—क्या है मां? क्यों चिल्ला रही हो! ये क्या है? (हँस कर) अरे नोट! इतने सारे! देखूं।

पत्नी—(झिड़क कर) नहीं, रहने दे, जा खेल।

बालक—तुम नाराज हो पिताजी से।

पत्नी—हां, जा खेल, जा।

बालक—एक नोट तो दे दे।

पत्नी—चल यहां से।

सूत्रधार—चारों ओर शोर मच रहा है एक तरफ वेद-पाठ की आवाज, दूसरी तरफ यज्ञ की ध्वनि स्वाहा-स्वाहा, तीसरी तरफ आटा मांड़ पूरी के लिए, साग हो गया, लड्डू रखदें आदि की आवाज।

वकील—आप तो इस समय बिल्कुल स्वामी लग रहे हैं। उपदेशक जी, क्या नाम रखा है भला?

उपदेशक—स्वामी सत्यचित् गिरि, वकील साहब।

वकील—मूर्ति की प्रतिष्ठा कब है?

सत्यचित्—बारह बजे का मुहूर्त है। भगवान् को पहनाने के लिए रेशमी कपड़े लेने सेठ हरजस मल गये हैं। बड़े सेठ जी ऊपर की देख-भाल कर रहे हैं। आने वाले लोगों के बैठाने के प्रबन्ध के लिए डाक्टर साहब तथा सेठ जी हैं। आप जरा भोजन की तरफ ध्यान रखें तो ठीक हो वकील साहब?

वकील—यह सब काम हो रहा है। मैं पण्डाल की देख-भाल कर रहा हूं। कुर्सियों, मेजों तथा गुलदस्तों के मंगाने का भार ठेकेदार साहब पर है। मैं तो प्रधान-मन्त्री हूं न? भाषण मैंने लिख लिया है, पढ़ने के लिए।

स्वामी—भाषण आप नहीं पढ़ेंगे। मैं बोलूंगा वकील साहब। भगवान के सम्प्रदाय में दीक्षित होने के लिए कुछ लोगों को तैयार करना होगा। कम से कम सौ आदमी तो हों। आप सब लोग हैं ही। सबको दीक्षा दी जायगी। उनके सम्बन्ध में नियम मैंने बना लिए हैं। सुनाऊँ आपको!

वकील—हाँ, मैं वकील की हैसियत से उन्हें एक बार देख जाना चाहता हूँ।

उपदेशक—मैं सुनाता हूँ।

१—मैं भगवान् सत्यरूप (लँगोटी वाले बाबा) के अतिरिक्त और किसी में विश्वास नहीं करूँगा।

२—ये ही ईश्वर हैं, ये ही अवतार, ये ही इस सृष्टि के पालक, सृजनहार और नाश करने वाले हैं।

३—उनके वाक्य ही मेरे लिए सब कुछ हैं। जो उन्होंने कहा है, वही सत्य है और जो नहीं कहा वह असत्य, झूठा है।

४—मैं सत्यरूप स्वामी के सम्प्रदाय का भक्त हूँ।

५—इस सम्प्रदाय का नाम होगा सत्यरूप स्वामी-सेवा-संघ।

वकील—इस पाँचवें को पहले रखिये, इसके बाद दूसरा; बाकी क्रम ठीक है। एक बात स्वामी जी!

स्वामी—कहिये।

वकील—मुझे भी बोलना तो चाहिए ही।

स्वामी—एक बात पूछूँ कितनी प्रैक्टिस है आपकी?

वकील—तुम्हें तो मालूम ही है स्वामी जी, गुजारा भी मुश्किल से होता है। आजकल तो इस परोपकार के काम से......

स्वामी—समझ गया, आप एक काम करें।

वकील—क्या?

स्वामी—करें तो कहूँ?

वकील—कहिये अगर फायदे की बात होगी तो जरूर करूँगा।

स्वामी—आप संन्यास लेकर मेरे चेले हो जाइये। जहाँ इसका

जनता पर प्रभाव पड़ेगा वहाँ हम लोगों का सम्प्रदाय भी बढ़ेगा। बाकी की चिन्ता आप न करें। आप दीक्षित हो जाएँ।

वकील—(सोचकर) सोचूँगा।

स्वामी—सोचूँगा नहीं, शुभस्य शीघ्रम्।

सेठ—(चिल्लाकर) अरे स्वामी जी, आप यहाँ क्या कर रहे हैं ? चलिये न वकील साहब आप भी, लोग इकट्ठे हो रहे हैं। प्राण-प्रतिष्ठा से पहले……

स्वामी—प्राण-प्रतिष्ठा से पहले मेरा प्रवचन होगा। चलो।

सेठ—हाँ, चलो।

* * * *

(शोरगुल)

स्वामी—सत्य भगवान के प्यारे ! आपको तो मालूम ही है कि लंगोटी वाले बाबा हमारे नगर में घूम-घूमकर सत्य बोलने, जीवों पर दया करने, सबको एक-सा समझने का उपदेश देते रहे हैं। उन वीतराग संन्यासी का जीवन जीवों का कल्याण और उन्हें सदुपदेश देने में ही बीता है। उस समय हमने उनकी बातें नहीं सुनीं, उनके उपदेशों से लाभ नहीं उठाया।

ठेकेदार—संक्षेप में कहिए स्वामी जी, और लोगों को भी बोलना है।

स्वामी—ठहरिये, हाँ ! तो आज वे हमारे बीच में नहीं हैं। मैंने उन्हें शरीर के साथ स्वर्ग जाते देखा है।

ठेकेदार—गलत बात है, मैंने उन्हें अपने सामने जल में समाधि लेते देखा है।

स्वामी—बीच में मत बोलिये ठेकेदार साहब ! (शोर) सुनिये, मेरे प्यारे भक्त ! भगवान को अनेक लोगों ने अनेक रूपों में देखा है। ठेकेदार साहब ने जल में समाधि लेते और मैंने सशरीर स्वर्ग जाते। वे योगी थे। उन्हें सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त थीं।

सेठ—मन्दिर बनवाने में जिन लोगों ने दान दिया है उनके नाम बोलो, स्वामी जी ! कुछ लोग जल्दी जाना चाहते हैं।

स्वामी—मैं कहता हूँ सेठ जी सुनिये तो, हमने उन्हीं सत्यरूप भगवान के धर्म का प्रचार करने के लिए यह मन्दिर बनवाया है। इसमें सेठ रघुमल, सेठ हरजस मल तथा अन्य कई दानी महानुभावों ने दान दिया है। दानियों की लिस्ट हमने मन्दिर के द्वार पर दीवार में खुदवाकर लगवाने का निश्चय किया है। दानियों के नाम संगमरमर के पत्थर पर खुदे होंगे। हमारा उद्देश्य सत्य धर्म का प्रचार करना है। (तालियां)

सेठ—दान की रकम भी तो बोलो स्वामी जी !

स्वामी—एक तरह मन्दिर के बनवाने में सबसे बड़ा दान सेठ रघुमल का है। सेठजी की इच्छा संसार त्याग करके भगवान की सेवा करने की है। (तालियां) हमारे वकील साहब ने सत्य धर्म के प्रचार के लिए जीवन-दान देने का निश्चय किया है। वे इस मन्दिर में भगवान के सामने संन्यास लेंगे (तालियां) और भगवान की सेवा करेंगे। भगवान के इस सेवक (अपने लिए) ने गृहस्थी छोड़कर भगवान की सेवा का व्रत लिया है, सो सज्जनो......

स्त्री—ये लो अपने दो हजार। मुझे नहीं चाहिए ये बेईमानी के रुपये। लो ! सब दिखावा है दिखावा। (गड़बड़ी मच जाती है।)

स्वामी—शान्त हो जाओ भक्तो ! भगवान के प्यारे, यह हमारा सौभाग्य है कि यह बाई भगवान की सेवा में दो हजार रुपये दे रही है। धन्य है बाई ! (तालियां)

सभा में स्वर—क्या नाम है इस बाई का। कौन है बेईमान ? क्या कहा ? कैसे रुपये हैं ?

स्वामी—आप चुप रहिये श्रीमान् (गड़बड़ी) शान्त हो जाइये ! शान्त हो जाइये !

वकील—मैं सत्य के प्रचार के लिए अपना जीवन दे रहा हूँ। मैं दीक्षा लूंगा।

स्वामी—धन्य है वकील साहब ! (तालियां)

(इसी बीच जनता में कोलाहल मच जाता है।)

जनता—(चिल्लाकर) लंगोटी वाले बाबा आ गये ! लंगोटी वाले बाबा आ गये !

स्वामी—(भरभराये तथा डरे हुए स्वर में) क्या······क्या हुआ !

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

प्रेमचन्द्र की भांति उपेन्द्रनाथ 'अश्क' भी उर्दू से हिन्दी क्षेत्र में आये हुए हैं। जिस समय 'अश्क' ने एकांकी लिखना प्रारम्भ किया, हिन्दी एकांकी का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट हो गया था। उसकी विधा निश्चित हो गयी थी, उसकी कलात्मकता स्पष्ट हो गयी थी, संकलनत्रयी को मान्यता मिल चुकी थी, पाश्चात्य विचारों के एकांकी को नया रूप दिया जा चुका था। मनोविज्ञान का अक्षयक्रोड़ मिल चुका था, संघर्षों तथा अन्तर्द्वन्द्वों को कथा-विकास के लिए सँजोया जाने लगा था, आदर्श और यथार्थ का गठबन्धन हो चुका था, समस्याएँ सामने आ चुकी थीं, कथावस्तुगत भाव-भूमि का विस्तार प्राग्-ऐतिहासिक युग से सम-सामयिक समाज तक हो गया था। ऐसी परिस्थिति में 'अश्क' के सामने बहुत अधिक उलझनें न थीं। यदि आवश्यकता थी तो केवल सतर्क व्यक्तित्व एवं दूरदर्शी साहित्यिक चेता की जो सजग रहकर समाज को देखने का प्रयास करे। अश्क जी को इसमें सफलता मिली है—यह सत्य है।

'अश्क' की एकांकी कला पर पाश्चात्य कला स्पष्ट परिलक्षित होती है। जहाँ एकांकीकार 'अश्क' वातावरण की सृष्टि करते हैं, उसकी सत्यता प्रतिपादित करते हैं, यथार्थ की अनुभूति प्रतिपादित करते हैं, वहाँ पाश्चात्य दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। चरित्र-निर्माण एवं विकास के लिए मनोविज्ञान का आधार जिस रूप में 'अश्क' ने स्वीकार किया है, वह भी विदेशी देन कहा जा सकता है। यही कारण है कि 'अश्क' के एकांकी चरित्र-विकास तथा समस्याओं के प्रतिपादन में बेजोड़ हैं। इनके भीतर का साहित्यकार मानव-हृदय को भली भाँति पहचानता है, विशेषतः नारी-हृदय को। परिणामस्वरूप इनके नारी पात्र प्रायः पाठक का अन्तर छू लेते हैं।

अश्क जी ने अपनी कथावस्तु के लिए समाज, और विशेषतः परिवार को चुना है। परिवार की समस्याओं को सामने रखकर 'अश्क' ने बड़ी ही सफलता के साथ समाज पर व्यंग किये हैं। इनके लिए इन्होंने यथार्थवादी व्यंग्यात्मक शैली को अपनाया है। साथ ही, अश्क जी की दृष्टि रंगमंच को ओझल नहीं कर सकी है। सच तो यह है कि उनका नाटककार अन्तर और बाह्य – दोनों संसार से भली भाँति परिचित मालूम होता है। यह नहीं है कि 'अश्क' के नाटक परम्पराओं से परे हो गये हों, उन्हें भारतीय नाट्य परम्परा का पूर्ण ज्ञान है पर पाश्चात्य कलात्मक दृष्टिकोण से उसमें नया रंग भर गया है जिससे आज के युग के अनुकूल वे नये-से मालूम होने लगे हैं। हिन्दू-परिवार की समस्याओं का अध्ययन और अनुभव उनके एकांकी नाटकों में मुखरित हुआ है। रूढ़िवादी परम्पराओं से घायल तथा बुद्धिवादी तर्कों से बोझिल भारतीय समाज इनके एकांकियों की भाव-भूमि है।

एकांकी के क्षेत्र में अश्क जी ने सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक स्थानों के अनुकूल एकांकी की विभिन्न विधाओं का, प्रहसन, सांकेतिक आदि शैलियों का प्रयोग किया है पर सभी का एक उद्देश्य रहा है— सामाजिक विभीषिका का पर्दाफाश करना, और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। उन्होंने आलोचक की पैनी दृष्टि से समाज का अन्तर्द्वन्द्व देखा है और मध्यवर्गीय समाज की नस-नस पहचानने की कोशिश की है। यही कारण है कि पात्रों को जिस प्रकार का मनोविज्ञान दिया गया है, उसमें आकर्षण की क्षमता बनी हुई है, अनुभव की वस्तु है जिसे 'अश्क' की निजी देन मानना चाहिए।

रंगमंच की उपेक्षा 'अश्क' के नाटकों में नहीं है। इनकी कृतियों में अंजो दीदी, पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ, मस्केबाजों का स्वर्ग, देवताओं की छाया में, अधिकार का रक्षक, लक्ष्मी का स्वागत आदि उल्लेखनीय एकांकी हैं।

अधिकार का रक्षक

समय—आठ बजे सुबह

स्थान—मि० सेठ के मकान का ड्राइंग रूम।

[बायीं ओर, दीवार के साथ एक बड़ी मेज लगी हुई है जिस पर एक रैक में करीने से पुस्तकें चुनी हैं, दायें-बायें कोनों में लोहे की दो ट्रे रक्खी हैं, जिनमें से एक में आवश्यक कागज-पत्र आदि और दूसरी में समाचार-पत्र रक्खे हैं। बीच में शीशे का एक डेढ़ वर्ग गज का चौकोर टुकड़ा रक्खा है जिसके नीचे कागज दबे हुए हैं। शीशे के टुकड़े और किताबों के रैक के मध्य में एक सुन्दर कलमदान रक्खा हुआ है और दो कलम शीशे के टुकड़े पर बिखरे पड़े हैं।

मेज के इस ओर एक गद्देदार कुर्सी है, जिसके पास ही दायीं ओर एक ऊँचा स्टूल है, जिस पर टेलीफोन का चोंगा रक्खा हुआ है। स्टूल की दायीं ओर एक तख्तपोश है, जिसमें सफाई से बिस्तर बिछा हुआ है। कुर्सी और तख्तपोश के बीच में स्टूल इस तरह है कि उस पर पड़ा हुआ टेलीफोन का चोंगा दोनों जगहों से सुगमता के साथ उठाया जा सकता है। तख्तपोश के पास एक आराम कुर्सी पड़ी हुई है। बायीं दीवार में दो खिड़कियाँ हैं, जिनके मध्य कैलेण्डर लटक रहा है। दायीं ओर दीवार में एक दरवाजा है, जो घर के बरामदे में खुलता है।

पर्दा उठने पर मि० सेठ कुर्सी पर बैठे कोई समाचार-पत्र देखते नजर आते हैं।

टेलीफोन की घण्टी बजती है। मि० सेठ समाचार-पत्र ट्रे में फेंक कर चोंगा उठाते हैं।]

मि० सेठ—हैलो...(जरा रुककर, और ऊँचे स्वर में) हेलो हाँ, हाँ,

मैं हा बोल रहा हूँ, घनश्यामदास। आप...अच्छा...आप, रलाराम जी, मन्त्री हरिजन सभा हैं। नमस्ते। (जरा हँसते हैं) सुनाइए महाराज, कल जलसे की कैसी रही ?

आवाज—अच्छा। आपके भाषण के बाद हवा पलट गयी ? सब हरिजन मेरे पक्ष में प्रचार करने को तैयार हो गये ?

मि० सेठ—ठीक-ठीक। आपने खूब कहा, खूब कहा आपने। वास्तव में मैंने अपना समस्त जीवन पीड़ितों, पददलितों और गिरे हुओं को ऊपर उठाने में लगा दिया है। बच्चों को ही लीजिए, घरों में उनकी दशा कैसी शोचनीय है ? उनके लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा की पद्धति कितनी पुरानी, ऊल-जलूल और दकियानूसी है ? उनके स्वास्थ्य की ओर कितना कम ध्यान दिया जाता है और अनुचित दबाव में रखकर उन्हें कितना डरपोक और भीरु बनाया जाता है ? उन्हें...

(छोटा बच्चा बलराम भीतर आता है)

बलराम—बाबूजी, बाबूजी हमें मेले......

मि० सेठ—(पूर्ववत् टेलीफोन पर बातें कर रहे हैं, पर आवाज तनिक ऊँची हो जाती है) हां, हाँ, मैं कह रहा हूँ कि मैंने बच्चों के लिए उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए, उनके स्वास्थ्य......

बलराम—(और समीप आकर कुर्ते का छोर पकड़कर) बाबूजी......

मि० सेठ—(चोंगे से मुँह हटा कर, क्रोध से) ठहर, ठहर कमबख्त। देखता नहीं, मैं टेलीफोन पर बात......

(बच्चा रोने लगता है)

मि० सेठ—(टेलीफोन पर) मैं आप से अभी एक सेकिंड में बात करता हूँ, इधर जरा शोर हो रहा है।

(चोंगा खट से मेज पर रख देते हैं)

(बच्चे से) चल, निकल यहाँ से। ...

(कान पकड़ कर उसे दरवाजे की तरफ घसीटते हैं, बच्चा रोता हुआ बैठ जाता है।)

(नौकर को आवाज देते हैं) रामलखन, ओ रामलखन !

रामलखन—(बाहर से) आये रहे बाबूजी ! (भागता हुआ भीतर आता है। सांस फूली हुई है) जी, बाबूजी।

(मि० सेठ नौकर को पीटते हैं।)

सूअर ! हरामखोर ! पाजी ! क्यों इसे इधर आने दिया ? क्यों इधर आने दिया इसे ?

रामलखन—अब बाबू काहे मारत हो ? लिए तो जात रहे।

(लड़के का बाजू थाम कर उसे बाहर ले जाता है।)

मि० सेठ—और सुनो, किसी को इधर मत आने देना। कोई बाहर से आए तो पहले आकर खबर दे देना, समझे। नहीं तो मार-मार कर खाल उधेड़ दूंगा।

(नौकर और लड़के को बाहर निकाल कर जोर से किवाड़ लगा देते हैं।)

हुं, अहमक ! मुफ्त में इतना समय नष्ट कर दिया।

(मेज पर से चोंगा उठाते हैं।)

(तनिक कर्कश स्वर से) हेलो......(आवाज में जरा विनम्रता लाकर) अच्छा आप अभी हैं (स्वर को कुछ संयत करके) तो मैं कह रहा था कि प्रान्त में मैं ही ऐसा व्यक्ति हूँ जिसने उस अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन किया, जो घरों और स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों पर किया जाता है और फिर वह मैं ही हूँ, जिसने पाठशालाओं में शारीरिक दण्ड को तत्काल बन्द कर देने पर जोर दिया। दूसरे, अत्याचारों से पीड़ित लोग घरों में काम करने वाले भोले-भाले निरीह नौकर हैं, जो क्रूर मालिकों के जुल्म का शिकार बनते हैं। इन अत्याचार और अन्याय को जड़ से उखाड़ने के हेतु भी मैंने नौकर-यूनियन स्थापित की है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण होते हुए भी मैंने हरिजनों का पक्ष लिया, उनके स्वत्वों की, उनके अधिकारों की, रक्षा के लिए मैंने दिन-रात एक कर

दिया है और अब भी यदि परमात्मा ने चाहा और यदि मैं धारा सभा में गया तो......

(दरवाजा खुलता है)

रामलखन—(दरवाजे से झांक कर) बाबूजी जमादारिन......

मि० सेठ—(टेलीफोन पर बात जारी रखते हुए) मैं वहाँ भी हरिजनों की सेवा करूँगा। आप अपनी हरिजन-सभा में इस बात की घोषणा कर दें।

रामलखन—(जरा अन्दर आकर) बाबूजी !......

मि० सेठ—(क्रोध से) ठहर पाजी, (टेलीफोन में) नहीं, नहीं, मैं नौकर से कह रहा था (खिसियाने से होकर हँसते हैं) हाँ, तो आप घोषित कर दें कि मैं असेम्बली में हरिजनों के पक्ष की हिफाजत करूँगा और वे मेरे हक में प्रोपेगेंडा करें।

है...क्या ?.. अच्छा अच्छा.. मैं अवश्य ही जलसे में शामिल होने का प्रयास करूँगा, क्या करूँ अवकाश नहीं मिलता, हि हि...हि हि... (हँसते है) अच्छा नमस्कार। (टेलीफोन का चोंगा रख देते हैं)

(नौकर से) तुम्हें तो कहा था, इधर मत आना।

रामलखन—आपई तो कहे कि कोऊ आए तो इत्तिला कर देई, मुदा अब ई जमादारिन अपनी मजूरी माँगत......

मि० सेठ—(गुस्से से) कह दो उससे, अगले महीने आए, मेरे पास समय नही। चले जाओ। किसी को मत आने दो।

भंगिन—(दरवाजे के बाहर से विनीत स्वर में) महाराज दूधों नहाओ, पूतों फलो। दो महीने हो गए हैं।

मि० सेठ—कह जो दिया। जाओ। अब समय नहीं।

(दरवाजे से भगवती प्रवेश करता है)

भगवती—जय रामजी की बाबूजी।

मि० सेठ—तुम इस समय क्यों आए हो भगवती ?

भगवती—बाबूजी, हमारा हिसाब कर दो।

मि० सेठ—(बेपरवाही से) तुम देखते हो, आजकल चुनाव के कारण कुछ नहीं सूझता। कुछ दिन ठहर जाओ।

भगवती—बाबूजी, अब एक घड़ी भी नहीं ठहर सकते। आप हमारा हिसाब चुका दीजिए।

मि० सेठ—(जरा ऊँचे स्वर में) कहा जो है, कुछ दिन ठहर जाओ। यहाँ अपना तो होश नही और तुम हिसाब-हिसाब चिल्ला रहे हो।

भगवती—जब आपकी नौकरी करते है तब खाने के लिए और कहाँ माँगने जाएँ।

मि० सेठ—अभी चार दिन हुए, दो रुपये ले गये थे।

भगवती—वे कहाँ रहे? एक तो मार्ग में बनिये की भेंट हो गया था, दूसरे से मुश्किल से आज तक काम चला है।

मि० सेठ—(जेब से रुपया निकाल कर फर्श पर फेंकते हुए) तो लो। अभी यह एक रुपया ले जाओ।

भगवती—नही बाबूजी, एक नही। आप मेरा सब हिसाब चुका दीजिए। वेतन मिले तीन महीने हो गये है। एक-एक, दो-दो से कितने दिन काम चलेगा? हमारे भी आखिर बीवी-बच्चे हैं, उन्हें भी खाने-ओढ़ने को चाहिए। आप एक दिन के चाय-पानी मे जितना खर्च कर देते है, उतना हमारे एक महीने...

मि० सेठ—(क्रोध से) क्या बक-बक कर रहे हो? कह जो दिया, अभी यही ले जाओ, बाकी फिर ले जाना।

भगवती—हम तो आज ही सब लेकर जायेंगे।

मि० सेठ—(उठकर, और भी क्रोध से) क्या कहा? आज ही लोगे? अभी लोगे? जा, नही देते। एक कौड़ी भी नहीं देते। निकल जा यहाँ से, जा, जाकर पुलिस में रिपोर्ट कर दे। पाजी, हरामखोर, सूअर, आज तक, लकड़ी में, दाने में, सौदा-सुलफ में, यहाँ तक कि बाजार से आने वाली हर चीज में पैसा खाता रहा, हमने कभी कुछ न कहा और अब, यों अकड़ता है। जा, निकल जा। जाकर अदालत में मामला चला दे।

चोरी के अपराध मे छः महीने के लिए जेल न भिजवा दिया तो नाम नही।

भगवती—सच है बाबूजी, गरीब लाख ईमानदार हो तो भी चोर है, डाकू है, और अमीर यदि आँखों में धूल झोंक कर हजारों पर हाथ साफ कर जाएँ, चन्दे के नाम पर सहस्रों......

मि० सेठ—(क्रोध से पागल होकर) तू जायगा या नहीं, (नौकर को आवाज देते हैं) रामलखन ! ओ रामलखन !

रामलखन—जी बाबूजी, जी बाबूजी।

(भागता हुआ रामलखन भीतर आता है)

मि० सेठ—इसको बाहर निकाल दो।

रामलखन—(भगवती के बलिष्ठ चौड़े-चकले शरीर को नख से शिख तक देख कर) ई को बाहर निकारि दें, ई हमसों कब निकस, ई तो हमें निकारि दे......

मि० सेठ—(बाजू से रामलखन को परे हटाकर) हट तुझसे क्या होगा ?

(भगवती को पकड़ कर पीटते हुए बाहर निकालते हैं) निकलो, निकलो।

भगवती—मार लें, और मार लें, हमारे चार पैसे रख कर आप लक्षाधीश न हो जायेंगे बाबूजी।

(मि० सेठ उसे बाहर निकाल कर जोर से दरवाजा बन्द कर देते हैं।)

मि० सेठ—(रामलखन से) तुम यहाँ खड़े क्या देख रहे हो ? निकलो।

(रामलखन डर कर निकल जाता है।)

(तख्त पर लेटते हुए) मूर्ख, नामाकूल। (फिर उठकर कमरे में इधर-उधर घूमते हैं, फिर सीटी बजाते हैं और घूमते हैं, फिर नौकर को आवाज देते हैं) रामलखन ! ओ रामलखन !

रामलखन—(बाहर से) आये रहे बाबूजी ! (प्रवेश करता है)

मि० सेठ—अखबार अभी आया है कि नहीं ?

रामलखन—आ गया बाबूजी, बड़े काका पढ़ि रहन, अभी लाए देत ।

मि० सेठ—पहले इधर क्यों नहीं आया ? कितनी बार तुझे कहा, अखबार पहले इधर लाया कर । ला भाग कर ।

(रामलखन भागता हुआ जाता है ।)

मि० सेठ—(घूमते हुए अपने आप) मेरा वक्तव्य कितना जोरदार था, ग्रामों में हलचल मच गयी होगी । सब की सहानुभूति मेरे साथ हो जायगी ।

(टेलीफोन की घण्टी बजती है । मि० सेठ जल्दी से चोंगा उठाते हैं ।)

(टेलीफोन पर, धीरे से) हेलो । (जरा ऊँचे स्वर में) हेलो ।...कौन साहब...मन्त्री होजरी यूनियन । अच्छा, अच्छा नमस्कार, नमस्कार । सुनाइए, आपके चुनाव-क्षेत्र का क्या हाल है ?

क्या ? सब मेरे हक में वोट देने को तैयार हैं । मैं कृतज्ञ हूँ । मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ ।

इस ओर से आप बिल्कुल निश्चिन्त रहें । मैं उन आदमियों में से नहीं जो कहते कुछ हैं करते कुछ हैं । मैं जो कहता हूँ वही करता हूँ और जो करता हूँ वही कहता हूँ । आपने मेरा इलैक्शन मैनीफेस्टो (चुनाव सम्बन्धी घोषणा) नहीं पढ़ा । मैं असेम्बली में जाते ही मजदूरों की अवस्था सुधारने का प्रयास करूँगा । उनकी स्वास्थ्य-रक्षा, सुख-आराम, पठन-पाठन और दूसरी माँगों के सम्बन्ध में विशेष बिल धारा-सभा में पेश करूँगा ।

क्या ? हाँ...हाँ, इस ओर से भी मैं बेपरवाह नहीं । मैं जानता हूँ, इस सिलसिले से श्रमजीवियों को किस-किस मुसीबत का सामना करना पड़ता है । ये पूँजीपति गरीब मजदूरों के कई-कई महीनों के वेतन रोककर उन्हें भूखों मरने पर विवश कर देते हैं, स्वयं मोटरों में सैर करते हैं, शानदार होटलों में खाना खाते हैं, और जब ये गरीब रात-

दिन परिश्रम करने के बाद, लोहू-पानी एक कर देने के बाद—अपना मजदूरी माँगते है तब उन्हें हाथ तंग होने का, कारोबार में हानि होने का अथवा कोई ऐसा ही दूसरा बहाना बना टाल देते है। मैं असेम्बली में जाते ही एक ऐसा बिल पेश करूँगा जिससे वेतन के बारे में मजदूरों की सब शिकायतें सरकारी तौर पर सुनी जाएँ और जिन लोगों ने गरीब श्रमिकों के वेतन तीन महीने से अधिक दबा रक्खे हों उनके विरुद्ध मामला चला कर उन्हें दण्ड दिया जाए।

हाँ, आपकी यह माँग भी सोलहों आने ठीक है। मैं असेम्बली में इस माँग का समर्थन करूँगा। सप्ताह में ५२ घंटे काम की माँग कोई अनुचित नही। आखिर मनुष्य और पशु में कुछ तो अन्तर होना ही चाहिए। तेरह-तेरह घटे की ड्यूटी। भला काम की कुछ हद भी है।

(धीरे-धीरे दरवाजा खुलता है और सम्पादक महोदय भीतर आते हैं पतले दुबले से—आंखों पर मोटे शीशे की ऐनक चढ़ी है। गाल पिचक गये है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे आपको देर से प्रवाहिका का कष्ट है। धीरे से दरवाजा बन्द करके खड़े रहते हैं।)

मि० सेठ—(सम्पादक से) आप बैठिये। **(टेलीफोन पर)** ये हमारे सम्पादक महोदय आए है। अच्छा, तो संध्या को आपकी सभा हो रही है। मैं आने की कोशिश करूँगा। और कोई बात हो तो कहिए। नमस्कार **(चोंगा रख देते हैं) (सम्पादक से)** बैठ जाइए। आप खडे क्यो है ?

सम्पादक—नही, कोई बात नहीं। **(तकल्लुफ के साथ कोच पर बैठते हैं।)**

(रामलखन अखबार लिए आता है।)

रामलखन—बड़े काका तो देत नही रहन, मुदा जबरदस्ती लेई आये।

मि० सेठ—(समाचार-पत्र लेकर) जा-जा, बाहर बैठ।

(कुर्सी को तख्तपोश के पास सरका कर उस पर बैठते हैं, पाँव तख्त-पोश पर टिका लेते हैं और समाचार-पत्र देखने लगते हैं।)

सम्पादक—मैं...मैं...

मि० सेठ—(अखबार बन्द करके) हाँ, हाँ पहले आप ही फर्माइए।

सम्पादक—(ओठों पर जीभ फेरते हुए) बात यह है कि मेरी... मेरा मतलब है...कि मेरी आँखें बहुत खराब हो रही हैं।

मि० सेठ—आपको डाक्टर से परामर्श करना चाहिए था। कहिए, डाक्टर खन्ना के नाम रुक्का लिख दूं।

सम्पादक—नहीं, यह नहीं (थूक निगल कर) बात यह है कि मेरी आँखें इतना बोझ नहीं सहन कर सकतीं। आप जानते हैं, मुझे दिन के बारह बजे आना पड़ता है। बल्कि आजकल तो साढ़े ग्यारह ही बजे आता हूँ। शाम को छः-सात बजे जाता हूँ, फिर रात को नौ बजे आता हूँ और फिर एक भी बज जाता है, दो भी बज जाते हैं, तीन भी बज जाते हैं।

मि० सेठ—तो आप इतना न बैठा करें; बस जल्दी काम निबटा दिया...

सम्पादक—मैं तो लाख चाहता हूँ, पर जल्दी कैसे निबट सकता है? एक मैं हूँ और दो दूसरे आदमी हैं, जो न ठीक अनुवाद कर सकते हैं न ठीक लेख लिख सकते हैं; और पत्र बड़े-बड़े आठ पृष्ठों का निकालना होता है। फिर भी, शायद काम जल्द खतम हो जाए, पर कोई समाचार रह गया तो आप नाराज...।

मि० सेठ—हाँ, हाँ समाचार तो रहना नहीं चाहिए।

सम्पादक—और फिर बड़ी नहीं, आपके भाषणों की रिपोर्ट की प्रतीक्षा करनी होती है। उन्हें ठीक करते-करते एक बज जाता है। अब आप ही बताइए पहले कैसे जा सकते हैं?

मि० सेठ—(बेजारी से) तो आखिर आप क्या चाहते हैं?

सम्पादक—मैंने पहले भी निवेदन किया था कि यदि एक और आदमी का प्रबन्ध कर दें तो अच्छा हो। दिन को वह आ जाया करे, रात को मैं, और फिर प्रति सप्ताह बदली भी हो सकती है। जिससे...

मि० सेठ—मैं आपसे पहले भी कह चुका हूँ, यह असम्भव है, बिल्कुल असम्भव है। अखबार कोई बहुत लाभ पर नहीं चल रहा।

इस पर एक और सम्पादक के वेतन का बोझ कैसे डाला जा सकता है? अगले महीने पाँच रुपये मैं आपके बढ़ा दूँगा।

सम्पादक—मेरा स्वास्थ्य आज्ञा नहीं देता। आखिर आँखें कब तक बारह-बारह, तेरह-तेरह घण्टे काम कर सकती है?

मि० सेठ—कैसी मूर्खों जैसी बात करते हो जी। छः महीने में पाँच रुपया वृद्धि तो सरकार के घर में भी नहीं मिलती। वैसे आप काम छोड़ना चाहें तो शौक से छोड़ दें। एक नहीं दस आदमी मिल जाएँगे, लेकिन......

(रामलखन भीतर आता है।)

रामलखन—बाहर दुइ लड़का आपसे मिलना चाहत रहन।

मि० सेठ—कौन हैं?

रामलखन—कोई सेक्टरी कहे रहन......

मि० सेठ—जाओ, बुला लाओ (सम्पादक से) आज के पत्र में मेरा जो वक्तव्य प्रकाशित हुआ है, मालूम होता है उसका कालेज के लड़कों पर अच्छा प्रभाव पड़ा है।

सम्पादक—(मुँह फुलाये हुए) अवश्य पड़ा होगा।

मि० सेठ—मैंने छात्रों के अधिकारों की हिमायत भी तो खूब की है। छात्र-संघ ने जो माँगें विश्वविद्यालय के सामने पेश की हैं मैंने उन सब का समर्थन किया है।

(दो लड़के प्रवेश करते हैं। दोनों सूट पहने हुए हैं, एक ने टाई लगा रखी है, दूसरे के गले में खुले कालर की कमीज है।)

दोनों—नमस्ते।

मि० सेठ—नमस्ते।

(दोनों कोच पर बैठते हैं।)

मि० सेठ—कहिए मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?

खुले कालरवाला—हमने आज आपका वक्तव्य पढ़ा है।

मि० सेठ—आपने उसे कैसा पसन्द किया?

वही लड़का—छात्रों में सब ओर उसी की चर्चा है। बड़ा जोश प्रकट किया जा रहा है।

मि० सेठ—आपके मित्र किधर वोट दे रहे हैं?

वही लड़का—कल तक कुछ न पूछिए, लेकिन मैं आपको निश्चय विश्वास दिलाता हूँ कि इस बयान के बाद ७५ प्रतिशत आपकी ओर हो गए हैं। अभी हमारी सभा हुई थी। छात्रों का बहुमत आपकी तरफ था।

मि० सेठ—(प्रसन्नता से) और मैंने गलत क्या लिखा है? जिन लोगों का मन बूढ़ा हो चुका हो, वे नवयुवकों का प्रतिनिधित्व क्या खाक करेंगे, युवकों को तो उस नेता की आवश्यकता है जो शरीर चाहे बूढ़ा हो चुका हो, पर जिसके विचार बूढ़े न हुए हों, जो रिफार्म से खौफ न खाए, सुधारों से कन्नी न कतराए।

वही लड़का—हम अपने कालेज के प्रबन्ध में भी कुछ परिवर्तन चाहते थे परन्तु कालेज के सर्वेसर्वाओं ने हमारी बात ही नहीं सुनी।

मि० सेठ—आपको प्रोटेस्ट (विरोध) करना चाहिए था।

वही लड़का—हमने हड़ताल कर दी है।

मि० सेठ—आपने क्या माँगें पेश की है?

वही लड़का—हम वर्तमान प्रिंसिपल को नहीं चाहते। न वह ठीक तरह पढ़ा सकता है, न ठीक प्रबन्ध कर सकता है, कोई छींके तो जुर्माना कर देता है, कोई खाँसे तो बाहर निकाल देता है। छात्रों से उसका व्यवहार सर्वथा अनुचित और उनके नातेदारों से अत्यन्त अपमानजनक है।

मि० सेठ—(कुछ उत्साहहीन होकर) तो आप क्या चाहते हैं?

दोनों—हम योग्य प्रिंसिपल चाहते हैं?

मि० सेठ—(गिरी हुई आवाज में) आपकी माँग उचित है, पर अच्छा होता यदि आप हड़ताल करने के बदले कोई वैधानिक रीति प्रयोग में लाते, प्रबन्धकों से मिल-जुल कर मामला ठीक करा लेते।

वही लड़का—हम सब कुछ करके देख चुके हैं।

मि० सेठ—हूँ!

दाईंवाला लड़का—बात यह है जनाब कि छात्र कई वर्षों से

वर्तमान प्रिंसिपल से असन्तोष प्रकट करते आ रहे हैं, पर व्यवस्थापकों ने तनिक भी परवा न की। कई बार आवेदन-पत्र कालेज की प्रबन्धक कमेटी के पास भेजे गये पर कमेटी के कानों पर जूं तक न रेंगी। हार कर हमने हड़ताल कर दी है, पर कठिनाई यह है कि कमेटी काफी मजबूत है, प्रेस पर उसका अधिकार है। हमारे विरुद्ध झूठे-सच्चे वक्तव्य प्रकाशित कराये जा रहे हैं, और हमारी खबर तक नहीं छापी जाती। आपने छात्रों की सहायता का, उनके अधिकारों की रक्षा का बीड़ा उठाया है, इसीलिए हम आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं।

मि० सेठ—(अन्यमनस्कता से) मैं आपका सेवक हूँ। ये हमारे सम्पादक हैं, कल दफ्तर में जाकर इनको अपना बयान दे दें। वे जितना उचित समझेंगे छाप देंगे।

दोनों— (उठते हुए) बहुत बेहतर, कल हम सम्पादक जी की सेवा में उपस्थित होंगे। नमस्कार।

मि० सेठ और सम्पादक—नमस्कार।

(दोनों का प्रस्थान)

मि० सेठ—(सम्पादक से) यदि कल ये आएँ तो इनका बयान हरगिज न छापना। प्रिंसिपल हमारे कृपालु हैं और कमेटी के सदस्य हमारे मित्र।

सम्पादक—(मुंह फुलाए हुए) बहुत अच्छा।

मि० सेठ—आप घबराएँ नहीं, यदि आपको कुछ दिन ज्यादा काम ही करना पड़ गया तो क्या आफत आ गयी? जब मैंने अखबार शुरू किया था तब चौदह-चौदह, पन्द्रह-पन्द्रह घण्टे काम किया करता था। यह महीना आप किसी न किसी तरह निकालिए। चुनाव हो ले, फिर कोई प्रबन्ध कर दूंगा।

सम्पादक—(दीर्घ निःश्वास छोड़ कर) बहुत अच्छा।

(मि० सेठ समाचार-पत्र पढ़ना शुरू कर देते हैं। दरवाजा जोर से खुलता है और बलराम का बाजू थामे श्रीमती सेठ बगुले की तरह प्रवेश करती हैं।)

श्रीमती सेठ—मैं कहती हूँ, आप बच्चों से कभी प्यार करना भी

सीखेंगे। जब देखो घूरते, झिड़कते, डाँटते नजर आते हो, जैसे बच्चे न हों, पराये हों। भला आज इस बेचारे से क्या अपराध हो गया जो पीटने लगे? देखो तो सही! अभी तक कान कितना लाल है।

मि० सेठ—(पूर्ववत् समाचार-पत्र पर दृष्टि जमाए हुए) तुम्हें कभी बात करने का सलीका भी आयेगा? जाओ, इस समय मेरे पास समय नहीं है।

श्रीमती सेठ—आपके पास हमारी बात सुनने के लिये कभी समय होता भी है? मारने और पीटने के लिए जाने कहाँ से समय निकल आता है। इतनी देर से ढूंढ़ रही थी इसे। नाश्ता कब से तैयार था, बीसों आवाजें दीं, घर का कोना-कोना छान मारा। आखिर देखा कि भूसे की कोठरी में बैठा सिसक रहा है। आखिर क्या बात हो गई थी?

मि० सेठ—(क्रोध से अखबारों को तख्तपोश पर पटक कर) क्या बके जा रही हो? बीस बार कहा है कि इन सब को सम्भाल कर रखा करो। आ जाते हैं सुबह-सुबह दिमाग चाटने के लिए।

(श्रीमती सेठ बच्चे को पकड़कर चप्पल लगाती हैं, बच्चा रोता है)

श्रीमती सेठ—तुझे कितनी बार कहा है, इस कमरे में न जाया कर। ये पापा नहीं दुश्मन हैं। लोगों के बच्चों से प्रेम करेंगे, उनके सिर पर हाथ फेरेंगे, उनके स्वास्थ्य के लिए बिल पास करायेंगे, उनकी उन्नति के भाषण झाड़ते फिरेंगे और अपने बच्चों के लिये, भूलकर भी प्यार का एक शब्द जबान पर न लायेंगे।

(बच्चे के जोर से चप्पल लगाती है)

श्रीमती सेठ—तुझे कितनी बार कहा है, न जाया कर इस कमरे में। मैं तुझे नौकर के साथ मेला देखने भेज देती (आवाज ऊँची होते-होते रोने की हद तक पहुँच जाती है)। स्वयं जाकर दिखा लाती। तू क्यों आया यहाँ मार खाने, कान तुड़वाने।

मि० सेठ—(क्रोध से पागल होकर, पत्नी को ढकेलते हुए) मैं कहता हूँ, इसे पीटना है तो उधर जाकर पीटो, यहाँ इस कमरे में आकर

क्यों शोर मचा दिया । अभी कोई आ जाए तो क्या हो ? कितनी बार कहा है, इस कमरे में न आया करो । घर के अन्दर जाकर बैठा करो।

(श्रीमती सेठ तुनक कर खड़ी हो जाती हैं ।)

श्रीमती सेठ—आप कभी घर के अन्दर आएँ भी । आपके लिए तो जैसे घर के अन्दर आना पाप करने के बराबर है । खाना इस कमरे में खाओ, टेलीफोन सिरहाने रख कर इसी कमरे में सोओ, सारा दिन मिलने वालों का तांता लगा रहे । न हो तो कुछ लिखते रहो, लिखो न तो पढ़ते रहो, पढ़ो न तो बैठे सोचते ही रहो । आखिर हमें कुछ कहना हो तो किस समय कहें ?

मि० सेठ—कौन सा मैंने उसका सर फोड़ दिया है, जो कुछ कहने की नौबत आई ? जरा सा उसका कान पकड़ा था कि बस आकाश सिर पर उठा लिया ।

श्रीमती सेठ—सिर फोड़ने का अरमान रह गया हो तो वह भी निकाल डालिए । कहें तो मैं ही इसका सिर फोड़ दूं ।

(उन्मादियों की भांति बच्चे का सिर पकड़ कर तख्तपोश पर मारती है ।)

मि० सेठ—(श्रीमती सेठ को तड़ातड़ पीटते हैं) मैं कहता हूं तुम पागल हो गयी हो । निकल जाओ यहां से । इसे मारना है तो उधर जाकर मारो, पीटना है तो उधर जाकर पीटो, सिर फोड़ना है तो उधर जाकर फोड़ो । तुम्हारी नित्य की बकबक से तंग आकर मैं इधर एकान्त में आ गया हूँ । अब यहाँ आकर भी तुमने चीखना-चिल्लाना शुरू कर दिया है । क्या चाहती हो ? यहाँ से भी चला जाऊँ ?

श्रीमती सेठ—(रोते हुए) आप क्यों चले जाएँ ? हम ही चले जाएँगे । (भर्राई हुई आवाज में नौकर को आवाज देती है) रामलखन ओ रामलखन !

रामलखन—जी बीवीजी । (प्रवेश करता है)

श्रीमती सेठ—जाओ । जाकर तांगा ले आओ । मैं मायके जाऊँगी

(तेजी से बच्चे को लेकर चली जाती है। दरवाजा जोर से बन्द होता है।)

मि० सेठ—बेवकूफ।

(आरामकुर्सी पर बैठकर टाँगें तख्तपोश पर रख देते हैं और पीछे को लेट कर अखबार पढ़ने लगते हैं। टेलीफोन की घण्टी बजती है।)

मि० सेठ—(वहाँ से चोंगा उठा कर कर्कश स्वर में) हेलो, हेलो। नहीं, यह ३८१२ है, गलत नम्बर है। (बेजारी में चोंगा रख देते हैं) ईडियट्स। (टेलीफोन की घंटी फिर बजती है, चोंगा उठाकर और भी कर्कश स्वर में) हेलो। हेलो।

कौन? श्रीमती सरला देवी। (उठकर बैठते हैं। चेहरे पर मृदुलता और आवाज में माधुर्य आ जाता है) माफ कीजिएगा, मैं जरा परेशान हूँ। सुनाइए, तबीयत तो ठीक है?

(पॉज)

(दीर्घ निःश्वास छोड़ कर) मैं भी आपकी कृपा से अच्छा हूँ। सुनाइए, आपके महिला-समाज ने क्या पास किया है? मैं भी कुछ आशा रखूँ या नहीं?

(पॉज)

मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ, अत्यन्त आभारी हूँ। आप निश्चय रक्खें, मैं जी-जान से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करूँगा। महिलाओं के अधिकारों का मुझ से बेहतर रक्षक आपको वर्तमान उम्मीदवारों में कहीं नजर न आएगा।......

(पर्दा गिरता है),

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

हरिकृष्ण 'प्रेमी' हिन्दी के एक लब्ध-प्रतिष्ठ नाटककार हैं जिनका व्यक्तित्व राजनीतिक उथल-पुथल तथा देश-सेवा की प्रवृत्तियों से हुआ है। इस प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव प्रेमी जी की रचनाओं पर दिखाई देता है और संक्रमणकालीन परिणामों की अपेक्षा हमें अवश्य करनी चाहिए। जिस प्रकार का रूप रीतिकालीन रचनाओं में दिखायी देता है, ठीक उसी प्रकार का रूप प्रेमी जी की भावनाओं में दिखायी पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप उनकी शृङ्गार की प्रवृत्ति राजनीति तथा नैतिकता के रंग में रंग कर आयी है। इसी कारण कहा जा सकता है कि प्रेमी जी के नाटकों में प्रतिपादित नैतिक आदर्शवाद उनकी अपनी विशेषता है।

यदि प्रेमी जी की समस्त कृतियों को एक साथ रखकर देखा जाय तो हमें उनमें मूलतः दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं; एक का सम्बन्ध राष्ट्रीय नवनिर्माण से है और दूसरी का नैतिक आदर्शवाद से। इन प्रवृत्तियों के लिए प्रेमी जी ने यथार्थ की उपेक्षा नहीं की है। समस्याओं को सामने रखने का प्रयास करते हुए नाटककार प्रेमी ने आदर्शोन्मुख नैतिकता की ओर संकेत किया है। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि नाटककार की पैनी दृष्टि समाज के अन्तस्तल तक पहुँचकर एक सत्य की खोज करना चाहती है जो किसी न किसी प्रकार राष्ट्र-निर्माण और नैतिकता में संजोया गया हो। स्पष्ट है कि प्रेमी जी के एकांकियों पर गांधीवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है। नाटककार प्रेमी जहाँ उपदेशक का रूप लेता है वहाँ भी उसका संयम बना हुआ है और उपदेशों को बड़े ही रूपात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

प्रेमी की एकांकी-कला नये युग की देन है। अपने एकांकियों में प्रेमी जी ने प्रारम्भ में सूचना तथा पात्र-परिचय दिया है। एकांकी के विकास-क्रम और गति का रूप भी बहुत ही निखर कर उनके नाटकों में

और आशीर्वाद मेवाड़ी झंडे के नीचे से हट गये हैं, उन्हें उसी के नीचे आना चाहिए। बूंदी राज्य भी सदा से मेवाड़ के आश्रित...

राव हेमू—बूंदी राज्य सदा से मेवाड़ के आश्रित ! यह तुम क्या कहते हो, अभयसिंह जी ? स्वर्गीय महाराज पृथ्वीराज के वंशजों को गहलौत राजपूत अपना गुलाम बनाना चाहते हैं। अभयसिंह जी किस महाराणा ने हमारे पूर्वजों को बूंदी का पट्टा दिया था ?

अभयसिंह—पट्टा तो शायद नहीं दिया लेकिन आप बता सकते हैं कि उन्होंने कैसे इस पठार पर अपना अधिकार जमाया है ?

राव हेमू—हमारे कुल-गौरव स्वर्गीय देवसिंह की तीखी तलवार ने इस पर्वतमाला पर बसने वाले मीनों और भीलों को अपने काबू में करके उनसे इस देश को छीना है। मेवाड़ के सेनापति ! मेवाड़ के पट्टे ने नहीं, प्रलयंकर शंकर के अवतार देवसिंह हाड़ा के पुरुषार्थ ने हाड़ा-वंश को इस भूमि का स्वामी बनाया है। हाड़ा-वंश किसी की गुलामी स्वीकार नहीं करेगा। चाहे वह विदेशी शक्ति हो,चाहे वह मेवाड़ का महाराणा हो।

अभयसिंह—किन्तु, क्या आज तक हाड़ा राव, दशहरे और होली के उत्सवों में चित्तौड़ जाकर महाराणा के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति के फूल नहीं चढ़ाते रहे ?

राव हेमू—केवल श्रद्धा और भक्ति के फूल ही नहीं मेवाड़ की मानरक्षा में अपने लोहू का अर्घ्य भी चढ़ाते रहे हैं, प्राणों की बलि भी देते रहे हैं।

अभयसिंह—तो आज आपको महाराणा की अधीनता स्वीकार करने में आपत्ति ही क्या है ?

राव हेमू—वह था एक वीर राजपूत का दूसरे राजपूत के प्रति स्नेह का आदान-प्रदान। मेवाड़ के सीसोदिया-वंश के प्रति बूंदी के चौहानवंशीय हाड़ाओं का प्रेम-भाव अस्वाभाविक नहीं है। पृथ्वीराज के भी पहले से सीसोदिया और चौहान देश और जाति की मान-रक्षा में रक्त का संगम करते रहे हैं। दो वंशों की रक्त-धाराओं के संगम ने नीच-ऊँच की भावनाओं को नष्ट कर दिया था। आज महाराणा न जाने किस के बहकाने में आकर एक बेसुरी तान अलापने लगे हैं। सेनापति, आप तो समझदार हैं, महाराणा को समझाइए।

अभयसिंह—समझाऊँ तो तब, जब स्वयं समझूँ। मैं तो यह जानता हूँ कि राजपूतों को एक सूत्र में गूंथे जाने की बड़ी आवश्यकता है और जो व्यक्ति यह माला तैयार करने की शक्ति रखता है, वह हैं महाराणा लाखा।

राव हेमू—शक्ति की बात न छेड़ो, अभयसिंह। प्रत्येक राजपूत को अपनी शक्ति पर नाज है। इतने बड़े दंभ को मेवाड़ अपने प्राणों में आश्रय न दे, इसी में उसका कल्याण है। रह गई बात एक माला में गूंथने की, सो वह माला तो बनी हुई है। यह मेवाड़ का दृष्टि दोष है कि वह उसे देख नहीं पा रहा है। हाँ, उस माला को तोड़ने का श्रीगणेश अब हो गया है।

अभयसिंह—तो मेरा यहाँ तक आना व्यर्थ हुआ? आप महाराणा लाखा की आज्ञा को......

राव हेमू—आज्ञा? हाड़ा आज्ञा के नाम से चिढ़ता है।

अभयसिंह—किन्तु अनुशासन का अभाव हमारे देश के टुकड़े किए हुए है।

राव हेमू—प्रेम का अनुशासन मानने को हाड़ा-वंश सदा तैयार है, शक्ति का नहीं। मेवाड़ के महाराणा को यदि अपने ही जाति भाइयों पर अपनी तलवार आजमाने की इच्छा हुई है तो उससे उन्हें कोई नहीं रोक सकता। बूंदी स्वतन्त्र राज्य है और स्वतन्त्र रह कर वह महाराणाओं का आदर करता रह सकता है। अधीन होकर किसी की सेवा करना वह पसन्द नहीं करता।

(नेपथ्य में गान)

कभी न अपनी आन गंवाना।

तुम हो अग्नि पुत्र अभिमानी,
हृदय तुम्हारा है तूफानी,
तुमने भय से हार न मानी,

कभी न जाना शीश झुकाना।
कभी न अपनी आन गंवाना।

पाली है प्राणों में ज्वाला,
राजपूत रण मद मतवाला,
कब बंधन से बंधने वाला ?

चाहे अपनी जान गवाना।
कभी न अपनी आन गंवाना।

गौरवहीन न जीवन जीना,
चाहे पड़े गरल भी पीना,
चाहे छलनी होवे सीना,

पर न दासता को अपनाना।
कभी न अपनी आन गंवाना।

राव हेमू—सुनते हो अभयसिंह। कोई क्या गा रहा है ? यह है राजपूत के जीवन का मन्त्र। आप मेवाड़ियों को यह बात नये सिरे से समझानी न होगी। आप महाराणा को समझाएँ कि जिस धातु से मेवाड़ियों की तलवार बनी है उसी से बूंदी के हाड़ाओं की भी।

अभयसिंह—यह देश का दुर्भाग्य है कि...

(गाते-गाते चारणी का प्रवेश)

चारणी—रुक क्यों गये ? मेवाड़ के सेनापति क्या कहते है, मैं भी तो सुनूं ?

अभयसिंह—ये राजनीतिक बातें है, चारणी। तुम अपना गीत गाए जाओ, राजपूतों के हृदयों में आग लगाए जाओ। ये राजनीति के चक्कर तुम्हारी सीमा के बाहर है।

चारणी—राजनीति। हः हः हः। वह हमारी सीमा के बाहर है। वह केवल राजाओं की है। वह दिन आएगा सेनापति, जब राजनीति का उदय साधारण जनता में से होगा। मैंने सुना था मेवाड़ के सेनापति यहाँ आये हैं, इसीलिए दर्शन करने चली आई थी और यह जानने भी कि इस समय, जब देश का वातावरण शान्त है, दो राजशक्तियों में क्या अभिसंधि हो रही है।

राव हेमू—कुछ नहीं देवि, बड़े मगर छोटों को हजम कर जाना चाहते हैं। चारणी तुम जो गीत गा रही थी, उसमें राजपूत के जीवन

का मूल मन्त्र प्रतिध्वनित हो रहा था। तुम्हारे इस गीत को सार्थक करने का समय मानो आ रहा है। चारणी, तुम हाड़ाओं के प्राणों की आग सुलगाओ।

चारणी—किन्तु, मेरे लिए तो हाड़ा और गहलोत दोनों बराबर हैं।

राव हेमू—फिर न्याय और अन्याय तो देखना होता है। आज मेवाड़ का बूंदी पर कोप हुआ है। राजपूत की तलवार राजपूत के खून की प्यासी हुई है।

चारणी—सर्वनाश! महाकाल की जो मर्जी। यह भयंकर दुर्घटना भी कल्याणकारी सिद्ध हो।

(प्रस्थान)

अभयसिंह—तो मैं जाऊँ?

राव हेमू—आपकी इच्छा।

[दोनों का दो तरफ प्रस्थान]

पट-परिवर्तन

दूसरा दृश्य

स्थान—चित्तौड़ का राजमहल। महाराणा लाखा बहुत चिन्तित और व्यथित अवस्था में कमरे में टहल रहे हैं।

लाखा—मेवाड़ के गौरवपूर्ण इतिहास में मैंने कलंक का टीका लगाया है। यह बात नहीं कि सीसोदियावंशियों ने कभी पराजय का मुख देखा ही नहीं लेकिन उनकी पराजय भी विजय से अधिक उज्ज्वल होती रही है। अलाउद्दीन की चित्तौड़-विजय की घटना इस बात का प्रबल प्रमाण है। किन्तु इस बार मुट्ठी भर हाड़ाओं ने हम लोगों को जिस प्रकार पराजित और विफल किया उससे मेवाड़ के आत्म-गौरव को कितनी ठेस पहुँची है, मेरा ही अन्तःकरण जानता है।

(अभयसिंह का प्रवेश और महाराणा को अभिवादन करना)

अभयसिंह—महाराणाजी! दरबार के सभासद आपके दर्शन पाने को उत्सुक हैं।

महाराणा—सेनापति अभयसिंह जी ! आज मैं दरबार में नहीं जाऊँगा। आप जानते हैं कि जब से हमें नीमेरा के मैदान में बूंदी के राव हेमू से पराजित होकर भाग आना पड़ा, तभी से मेरी आत्मा मुझे धिक्कार रही है। बाप्पा रावल और वीरवर हमीर का रक्त जिसकी धमनियों में बह रहा हो वह प्राणों के भय से रणक्षेत्र से भाग आए यह कितने कलंक की बात है ?

अभयसिंह—किन्तु, जरा सी बात के लिए आप इतना अनुताप क्यों करते हैं, महाराणा ! हाड़ाओं ने रात के समय अचानक हमारे शिविर पर आक्रमण कर दिया। उस समय आकस्मिक धावे से घबरा कर हमारे सैनिक भाग खड़े हुए। आप तो तब भी प्राणों पर खेल कर राव हेमू से लोहा लेना चाहते थे किन्तु हमीं लोग आपको वहाँ से खींच लाये। इसमें आपका क्या अपराध है और इसमें मेवाड़ के गौरव में कमी आने का कौन सा कारण है ?

महाराणा—जिनकी खाल मोटी होती है, उनके लिए किसी भी बात में कोई भी अपयश, कलंक या अपमान का कारण नहीं होता। किन्तु जो आन को प्राणों से बढ़ कर समझते आये हैं, जिनका इतिहास पुकार-पुकार कर कह रहा है कि अपमान भरे युग से आत्म-सम्मान-पूर्ण क्षण अधिक श्रेयस्कर है, जिनकी पच्चीस-पच्चीस हजार महिलाएँ देश और जाति की मान-रक्षा के लिए एकबारगी जौहर की ज्वाला में जल कर मरण को अमर कर गयी हैं, वे पराजय का मुख देख कर भी जीवित रहें यह कैसी उपहासजनक बात है ! सुनो, अभयसिंह जी ! मैं अपने मस्तक से इस कलंक के टीके को धो डालना चाहता हूँ।

अभयसिंह—मेवाड़ के सैनिक आपकी आज्ञा पर अपने प्राणों की बलि देने को प्रस्तुत हैं।

महाराणा—उनके पुरुषार्थ की परीक्षा का दिन आ पहुँचा है। मैं महारावल बाप्पा का वंशज प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक बूंदी के दुर्ग में ससैन्य प्रवेश नहीं करूँगा, तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। बूंदी के दुर्ग पर जब तक मेवाड़ की पताका नहीं फहराएगी, तब तक पानी की एक बूंद भी गले के नीचे उतारना मेरे लिए गौहत्या के समान होगा।

अभयसिंह—महाराणा ! छोटे से बूंदी दुर्ग को विजय करने के लिए इतनी बड़ी प्रतिज्ञा करने की क्या आवश्यकता है ? बूंदी को उसकी धृष्टता के लिए दण्ड तो दिया ही जाएगा, लेकिन हाड़ा लोग कितने वीर हैं । चौहानों का इतिहास उनके प्राणों को उत्तेजित करता रहता है, युद्ध करने में यम से भी वे नहीं डरते । वे यद्यपि संख्या में कम हैं किन्तु अपने पहाड़ी प्रदेश में खूब सुरक्षित हैं । इसमें सन्देह नहीं कि अन्तिम विजय हमारी होगी, किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसमें कितने दिन लग जाएँगे । इसलिए ऐसी भीषण प्रतिज्ञा आप न करें । सम्पूर्ण मेवाड़ आपके इशारे पर मरने-जीने के लिए प्रस्तुत है । आपके प्राणों का मूल्य उसे स्वर्ग सिंहासन से भी अधिक है, कुबेर के धन से भी ज्यादा है । आपकी इस प्रतिज्ञा की बात सुन कर सब जगह अशान्ति के बादल छा जाएँगे और दो राजपूत वंशों में जो भयंकर वैमनस्य की ज्वाला जल उठेगी वह बुझाए न बुझेगी, और उसका लाभ उठाएँगे विदेशी लोग, भारतीय सभ्यता के शत्रु । इसलिए आप से मेरा नम्र निवेदन है कि आप मेवाड़ पर दया करके, गहलोत-वंश पर तरस खाकर, राजपूत-जाति के हित-साधन के लिए और भारतीय स्वतन्त्रता की मंगल कामना के लिए अपनी कठोर प्रतिज्ञा को वापिस ले लें ।

महाराणा—आप यह क्या कहते हैं, सेनापति । क्या कभी आपने सुना है कि सूर्य-वंश में पैदा होने वाले पुरुष ने अपनी प्रतिज्ञा को वापिस लिया है ? महाराजा दशरथ का उदाहरण हम लोगों के सामने है । "प्राण जायँ पर वचन न जाही" यह हमारे जीवन का मूलमन्त्र है । जो तीर तरकस से निकल कर, कमान पर चढ़ कर, छूट गया उसे बीच में ही नहीं लौटाया जा सकता । मेरी प्रतिज्ञा कठिनाई से पूरी होगी, यह मैं जानता हूँ और इस बात की हाल के युद्ध में पुष्टि भी हो चुकी है कि हाड़ा-जाति वीरता में हम लोगों की अपेक्षा किसी प्रकार हीन नहीं है, फिर भी महाराणा लाखा की प्रतिज्ञा वास्तव में प्रतिज्ञा है वह पूर्ण होनी चाहिए ।

(नेपथ्य में गान)

तोड़ मोतियों की मत माला।
ये सागर से रत्न निकाले,
युग-युग से है गये सम्हाले।
इनसे दुनियां में उजियाला।
तोड़ मोतियों की मत माला।
ये छाती में छेद करा कर,
एक हुए है हृदय मिला कर,
इनमें व्यर्थ भेद क्यों डाला ?
तोड़ मोतियों की मत माला।
मा का मान इसी माला से।
बच रे हृदय द्वेष ज्वाला से।
कर ले पान प्रेम का प्याला।
तोड़ मोतियों की मत माला।
इनमें कोई नही बड़ा है।
विधि ने इनको स्वयं घड़ा है।
तू क्यों बनता है मतवाला ?
तोड़ मोतियों की. मत माला।

(गाते-गाते चारणी का प्रवेश)

महाराणा—तुम गा रही थी, चारणी ? तुम सम्पूर्ण राजस्थान को एकता की शृङ्खला में बांध कर देश की स्वाधीनता के लिए कुछ करने का आदेश दे रही थी, किन्तु मैं तो उस शृङ्खला को तोड़ने जा रहा हूँ। दो आन वाली जातियों में जानी दुश्मनी पैदा करने जा रहा हूँ।

चारणी—यह आप क्या कहते है, महाराज ? आपकी विवेकशीलता पर सब को विश्वास है। जिस दिन सेनापति अभयसिंह बूंदी के राव के पास मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने का संदेशा लेकर पहुंचे थे, उसी दिन मैंने उन्हें सचेत किया था। उसके बाद जब मेवाड़ी सेना पराजित होकर लौट आई तो मैंने समझ लिया कि मेवाड़ और बूंदी

महाराणा—क्यों न लगता। निस्सन्देह यह ठीक बूंदी दुर्ग की हूबहू नकल है। अच्छा अब इस पर चढ़ाई करने का खेल खेला जाय। इस मिट्टी के दुर्ग को मिट्टी में मिलाने से मेरी आत्मा को संतोष तो नहीं होगा, लेकिन अपमान की वेदना में, दर्प की तरंग में, प्रतिहिंसा के आवेग में, जो विवेकहीन प्रतिज्ञा मैंने कर डाली थी उससे छुटकारा तो मिल ही जाएगा। उसके बाद फिर ठंडे दिमाग से सोचना होगा कि बूंदी को मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने के लिए किस तरह बाध्य किया जाए। आज तक ऐसा नहीं हुआ कि मेवाड़ के महाराणाओं की मनोकामनाएँ पूरी हुए बिना रह गयी हों।

अभयसिंह—निश्चय ही महाराज। शीघ्र ही बूंदी के पठारों पर सीसोदियों का सिंहनाद होगा। अच्छा, अब हम लोग आज के रण की तैयारी करें।

महाराणा—किन्तु यह रण होगा किस से? इस दुर्ग में कोई तो हमारा पथ प्रतिरोध करने वाला होना चाहिए?

अभयसिंह—हाँ, खेल मे भी कुछ तो वास्तविकता आनी चाहिए। मैंने सोचा है कि दुर्ग के भीतर अपने ही कुछ सैनिक रख दिये जाएँगे जो बन्दूकों से हम लोगों पर छूछे वार करेंगे। कुछ घंटे ऐसा ही खेल होगा और फिर यह मिट्टी का दुर्ग मिट्टी में मिला दिया जाएगा। अच्छा, अब हम चलें।

(दोनों का प्रस्थान और वीरसिंह का कुछ साथियों के साथ प्रवेश)

वीरसिंह—मेरे बहादुर साथियो। तुम देख रहे हो कि हमारे सामने यह कौन सी इमारत बनाई गयी है?

पहला साथी—हाँ, सरदार, यह हमारी जन्म-भूमि बूंदी का दुर्ग है।

वीरसिंह—और तुम जानते हो कि महाराणा आज इस गढ़ को जीत कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं किन्तु क्या हम लोग अपनी जन्म-भूमि का अपमान होने देंगे? यह हमारे वंश के मान का मन्दिर है। क्या हम इसे मिट्टी में मिलने देंगे?

दूसरा साथी—किन्तु यह तो नकली बूंदी है।

वीरसिंह—धिक्कार है तुम्हें ? नकली बूंदी भी हमें प्राणों से अधिक प्रिय है। महाराणा ने सोचा होगा, यहाँ से बूंदी साठ कोस दूर है। बूंदी के राव को उनके इस अपमान का पता भी नहीं लग पाएगा। सीसोदिया सैनिक खिलौने की तरह इस मिट्टी के गढ़ को मिट्टी में मिला देंगे किन्तु जिस जगह एक भी हाड़ा है वहाँ आसानी से बूंदी का अपमान नहीं किया जा सकता। आज महाराणा आश्चर्य के साथ देखेंगे कि यह खेल केवल खेल ही नहीं रहेगा, यहाँ की चप्पा-चप्पा भूमि सीसोदियों के और हाड़ाओं के खून से लाल हो जाएगी।

तीसरा साथी—लेकिन सरदार, हम लोग महाराणा के नौकर हैं। क्या महाराणा के विरुद्ध तलवार उठाना हमारे लिए उचित है ? हमारा हाड़-मांस महाराणा के नमक से बना है। हमें उनकी इच्छा में व्याघात क्यों पहुँचाना चाहिए।

वीरसिंह—और जिस जन्मभूमि की धूल में खेल कर हम बड़े हुए हैं उसका अपमान भी कैसे सहन किया जा सकता है ? हम महाराणा के नौकर हैं तो क्या हमने अपनी आत्मा भी उन्हें बेच दी है ? जब कभी मेवाड़ की स्वतन्त्रता पर आक्रमण हुआ है, हमारी तलवार ने उनके नमक का बदला दिया है। और जब तक इन हाथों में तलवार पकड़ने की शक्ति रहेगी वे मेवाड़ की मान-रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहेंगे, लेकिन जब मेवाड़ और बूंदी के मान का प्रश्न आएगा हम चुपचाप मेवाड़ की दी हुई तलवार महाराणा के चरणों पर रख कर विदा ले लेंगे और बूंदी की ओर से अपने प्राणों की बलि देंगे। आज ऐसा ही अवसर आ पड़ा है।

पहला साथी—निश्चय ही जहाँ पर बूंदी है वहाँ पर हाड़ा है और जहाँ पर हाड़ा है वहाँ पर बूंदी है। कोई नकली बूंदी का भी अपमान नहीं कर सकता है। जन्म-भूमि हमें प्राणों से भी अधिक प्रिय है। हाड़ा-वंश फौलाद से बना है। आज महाराणा को इन मिट्टी की दीवारों का सामना नहीं करना पड़ेगा, बल्कि हाड़ाओं की वज्र देह का सामना करना पड़ेगा।

वीरसिंह—निश्चय ही। हम लोग संख्या में बहुत कम हैं और

हमारे पास तोपों का मुकाबला करने के लिए उपयुक्त साधन भी नहीं है। हमारे पास केवल अपने प्राण हैं और उन प्राणों को जन्म-भूमि की मान-रक्षा के लिए चढ़ा देने की अदम्य चाह है। संसार देखेगा कि हम अग्नि की सन्तानें अपने प्राणों में कितनी आग लिए हुए हैं। हम बुझते हुए दीपक की तरह भभककर अन्धकार में मिल जाएँगे। हम बिजली की तरह कड़क कर, चमक कर, आकाश का हृदय चीरते हुए पृथ्वी के अन्तस्तल में अपनी स्मृति की दरार को छोड़कर अन्तर्धान हो जाएँगे। अच्छा, अब अपनी जन्म-भूमि को प्रणाम करो।

(सब दुर्ग के द्वार पर मस्तक झुकाते हैं)

वीरसिंह—मेरे वीरो, तुम अग्नि-कुल के अंगारे हो। अपने वंश की आभा को क्षीण न होने देना। प्रतिज्ञा करो कि प्राणों के रहते हम इस नकली दुर्ग पर मेवाड़ की राज्य-पताका को स्थापित न होने देंगे।

सब लोग—हम प्रतिज्ञा करते हैं कि प्राणों के रहते इस दुर्ग पर मेवाड़ की ध्वजा न फहराने देंगे।

वीरसिंह—मुझे आप लोगों पर अभिमान है और बूंदी आप जैसे पुत्रों को पाकर फूली नहीं समाती। यह नकली बूंदी दुर्ग भी हमारे भावी बलिदान को कल्पना की आँखों से देख कर मुस्करा रहा है और जिस बूंदी में ऐसे मान के धनी पैदा होते हैं, उस पर संसार श्रद्धा के फूल बरसा रहा है। चलो, हम दुर्ग-रक्षा की तैयारी करें।

(सब का प्रस्थान)

पट-परिवर्तन

चौथा दृश्य

स्थान—नकली बूंदी दुर्ग का बन्द द्वार। महाराणा लाखा और अभयसिंह का प्रवेश।

महाराणा—सूर्य डूबने को आया। नकली दुर्ग के आस-पास की भूमि वैसी ही लाल हो उठी है, जैसा कि आकाश का पश्चिमी छोर हो रहा है। यह कितनी लज्जा की बात है कि हमारी सेना नकली बूंदी के दुर्ग पर अपना झंडा स्थापित करने में सफलता प्राप्त नहीं कर

सकी। वीरसिंह और उसके मुट्ठी भर साथी अभी तक वीरतापूर्वक लड़ रहे हैं।

अभयसिंह—हाँ, महाराणा, हम तो समझते थे कि घड़ी दो घड़ी में यह खेल खतम हो जायगा लेकिन हमें आशा के विरुद्ध छूंछे वारों का मुकाबला करने के बजाय हाड़ाओं के अचूक निशानों का सामना करना पड़ा। यद्यपि ये लोग गिनती में थोड़े हैं किन्तु इन्होंने दीवारों की आड़ में उपयुक्त स्थान बना कर हम पर गोली और तीर बरसाना प्रारम्भ कर दिया है। हमारी सेना इन अचिंतित और आकस्मिक प्रहारों से भौचक्की हो गयी है। अब दुर्ग के भीतर के हाड़ाओं की युद्ध-सामग्री समाप्त हो गयी है। आपकी प्रतिज्ञा पूरी होने में कुछ ही क्षणों का विलम्ब है। दुर्ग की दीवारों में जहां-तहां छेद हो गये हैं और वे धरा-शायी होने की प्रतीक्षा कर रही हैं।

महाराणा—यह भी अच्छा ही हुआ कि हमारे इस खेल में भी कुछ वास्तविकता आ गयी। यदि हमें बिना कुछ पराक्रम दिखाए ही दुर्ग पर अपना झण्डा फहराने का अवसर मिल जाता, तो मुझे जरा भी सन्तोष न होता। और सच पूछो तो वीरसिंह की वीरता देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं चाहता था ऐसे वीर के प्राणों को किसी प्रकार रक्षा हो सकती।

अभयसिंह—मैंने जब दुर्ग से अग्नि-वर्षा होते देखी तब मुझे भी कुछ आश्चर्य हुआ और मैंने सफेद झण्डी फहरा कर युद्ध को कुछ देर के लिए रोक दिया। उसके पश्चात मैं स्वयं दुर्ग में गया। मैंने वीरसिंह की उसके साहस के लिए प्रशंसा की और उससे अनुरोध किया कि तुम इस व्यर्थ प्रयास में अपने प्राण न खोओ। तुम महाराणा के नौकर हो, तुम्हें उनके विरुद्ध हथियार उठाना नहीं चाहिए। किन्तु उसने उत्तर दिया कि महाराणा ने हाड़ाओं को चुनौती दी है। हम उस चुनौती का उत्तर देने को मजबूर हैं। या तो जन्मभूमि और कुल के मान की रक्षा में हमें प्राणों की बलि देनी होगी, या महाराणा को इस विवेकहीन प्रतिज्ञा से विमुख होना पड़ेगा। अब तीसरा कोई रास्ता नहीं। यदि महाराणा हमारे प्राण लेना चाहते हैं तो खुशी से ले लें। लेकिन हम

इतने कायर, निर्लज्ज और निष्प्राण नहीं हैं कि अपनों आँखों से बूंदी का अपमान होते हुए देखें। मेवाड़ में जब तक एक भी हाड़ा है, नकली बूंदी पर भी बूंदी की ही पताका फहराएगी।

महाराणा—निश्चय ही इन वीरों का जन्म-भूमि के प्रति आदर-भाव सराहनीय है। यह मैं जानता हूँ कि इन लोगों के प्राणों की रक्षा करने का कोई उपाय नहीं। इतने बहुमूल्य प्राण लेकर भी मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी होगी। वह देखो दुर्ग की उस दरार में खड़ा हुआ वीरसिंह कितनी फुर्ती से बाण-वर्षा कर रहा है। अकेला ही हमारे सैकड़ों सैनिकों की टोली को आगे बढ़ने से रोके हुए है। धन्य हैं ऐसे वीर! धन्य है वह माँ जिसने ऐसे वीर पुत्रों को जन्म दिया! धन्य है वह भूमि जहाँ पर ऐसे सिंह पैदा होते हैं!

(नेपथ्य में गान)

वह देखो नभ मुसकाता है।
चले गये मां के दीवाने,
स्वर्ग लोक में राज्य जमाने,
जग गाता है उसके गाने
जो निज शीश चढ़ाता है,
वह देखो नभ मुसकाता है।
जिसकी तलवारों का पानी
लिखता है उन्मत्त कहानी,
उसकी होती अमर जवानी—
जो मां पर मिट जाता है।
वह देखो नभ मुसकाता है।
चले गये जिनको था जाना,
लगा हुआ है आना जाना,
पर जाना भी अमर बनाना,
विरला ही सिखलाता है,
वह देखो नभ मुसकाता है।

(जोर का धमाका और प्रकाश होता है)

महाराणा—वह देखो अभयसिंह, गोले के वार से वीरसिंह के प्राण-पखेरू उड़ गये। बूंदी के मतवाले सिपाही सदा के लिए सो गये। अब हम विजय-श्री प्राप्त कर सके। जाओ, दुर्ग पर मेवाड़ की पताका फहराओ और वीरसिंह के शव को आदर के साथ यहाँ पहुँचाओ।

(अभयसिंह का प्रस्थान)

महाराणा—आज इस विजय में मेरी सबसे बड़ी पराजय छिपी हुई है। व्यर्थ के दम्भ ने आज कितने ही निर्दोष प्राणों की बलि ले ली।

(गाते-गाते चारणी का प्रवेश)

चारणी—वह देखो नभ मुस्काता है! महाराणा। अब तो आपकी आत्मा को शान्ति मिल गई होगी। अब आपने अपने माथे से कलंक का टीका धो डाला। वह देखो, बूंदी के दुर्ग पर मेवाड़ के सेनापति विजय-पताका फहरा रहे हैं। वह सुनिए, मेवाड़ की सेना में विजय-दुन्दुभी बज रही है।

महाराणा—चारणी! क्यों तुम इस पश्चाताप से विकल प्राणों को और दुखी कर रही हो। न जाने किस बुरी साइत में मैंने बूंदी को अपने अधीन करने का निश्चय किया था। मैंने अपने उस निश्चय को वहीं क्यों न समाप्त कर दिया जहाँ कि मेवाड़ी सेना बूंदी की सेना से पराजित होकर वापिस लौट आई थी। वीरसिंह की वीरता ने मेरे हृदय के द्वार खोल दिये हैं, मेरी आँखों का पर्दा हटा दिया है? मैं देखता हूँ ऐसी वीर जाति को अधीन करने की अभिलाषा करना पागलपन है, वैसा ही पागलपन जैसा कि अलाउद्दीन खिलजी को मेवाड़ियों को अपना गुलाम बनाने की लालसा में था।

चारणी—तो क्या महाराणा, इस नकली दुर्ग की आश्चर्यजनक अभूतपूर्व स्वर्ण घटना के बाद भी मेवाड़ और बूंदी के मन मिलाने का कोई रास्ता नहीं निकल सकता?

(वीरसिंह के शव के साथ अभयसिंह का प्रवेश, शव को रखकर शव उठाने वाले चले जाते हैं।)

महाराणा—चारणी, इस शहीद के चरणों के पास बैठ कर (शव

के पास बैठते हैं) मैं अपने अपराध के लिए क्षमा मांगता हूँ किन्तु क्या बूंदी के राव तथा हाड़ा-वंश का प्रत्येक राजपूत आज की इस दुर्घटना को भूल सकेगा ?

(राव हेमू का प्रवेश)

राव हेमू—क्यों नहीं महाराणा । हम युग-युग से एक हैं और एक रहेंगे । आपको यह जानने की आवश्यकता थी कि राजपूतों में न कोई राजा है, न कोई महाराजा । सब देश, जाति और वंश की मान-रक्षा के लिए प्राण देने वाले सिपाही हैं । हमारी तलवार अपने ही स्वजनों पर न उठनी चाहिए । बूंदी के हाड़ा सुख और दुःख में सदा चित्तौड़ के सीसोदियों के साथ रहे हैं और रहेंगे । हम सब राजपूत अग्नि के पुत्र हैं । हम सब के हृदय में एक ही ज्वाला जल रही है । हम कैसे एक दूसरे से पृथक हो सकते हैं । वीरसिंह के बलिदान ने हमें जन्मभूमि का मान करना सिखाया है ।

महाराणा—निश्चय ही महाराज । आओ, हम सम्पूर्ण राजपूत जाति की ओर से इस अमर आत्मा के आगे अपना मस्तक झुकाएँ ।

(सब बैठकर वीरसिंह के शव के आगे झुकते हैं)

पटाक्षेप

सेठ गोविन्ददास

समस्याओं को लेकर हिन्दी एकांकी क्षेत्र में आने वाले नाटककारों में सेठ गोविन्ददास का नाम दूसरे स्थान पर आता है। गोविन्ददास जी के एकांकी के पीछे देशी-विदेशी साहित्य का अध्ययन और अनुकरण स्पष्ट बोलता रहता है, जिसके माध्यम से भारतीय सांस्कृतिक चेतना के स्वर, राजनीतिक चेतना तथा सामाजिकता की पुकार प्रतिध्वनित हो उठी है।

सेठ जी ने अपनी कथावस्तु के लिए इतिहास, पुराण एवं समाज को लिया है। ऐतिहासिक तथा पौराणिक एकांकी नाटकों में आप भारतीय संस्कृति के हिमायती हैं और सामाजिक नाटकों में राजनीति का प्रभाव स्पष्ट हो गया है। इसका कारण गांधीवादी विचारधारा तथा देश की परिस्थिति मात्र कहा जा सकता है। साथ ही सामाजिक एकांकी नाटकों में सेठ जी ने उच्च मध्यवर्ग को केन्द्र बनाकर नैतिकता, चरित्र और समाज की आवश्यकताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। सामाजिक एकांकी नाटकों में जिन-जिन पात्रों का निर्माण आपने किया है, उनमें अधिकांश पात्र राजनीतिक आन्दोलनों से लाए हुए व्यक्तित्व की देन मात्र हैं, अनुभव की देन है।

सेठ जी के समस्त एकांकियों को ६ वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) ऐतिहासिक एकांकी, (२) सामाजिक समस्या प्रधान एकांकी, (३) यथार्थ एकांकी, (४) एकपात्री एकांकी, (५) विदेशी प्रभाव वाले एकांकी तथा (६) पौराणिक एकांकी।

साहित्यकार निश्चय ही उन्हीं परिस्थितियों की देन होता है जिनके बीच से वह गुजरता है। सेठ गोविन्ददास का नाटककार भी इसी प्रकार की देन मानना चाहिए। जिस समय वे इस क्षेत्र में आते हैं, उनके साथ पाश्चात्य अध्ययन का भार भी वे लाते हैं जिसे सतत से संपर्क तक की

सीढ़ी पार करनी थी। समाज का नेतृत्व महात्मा गांधी कर रहे थे, जिन्हें देश के नवयुवकों की आवश्यकता थी—स्वतन्त्रता-संग्राम के सैनिक के रूप में। सेठ जी को बापू की पुकार ने अपनी ओर खींच लिया पर उनके भीतर का साहित्यकार रह-रहकर विद्रोह कर उठता था और इसी के फलस्वरूप इनके सामाजिक एकांकियों की रचना हुई है। सभी सामाजिक एकांकियों में सेठ गोविन्ददास ने व्यंग्य का आधार लेकर समाज का जीता जागता चित्र प्रस्तुत किया है।

एकांकी कला की दृष्टि से सेठ गोविन्ददास को एक सफल प्रयोगवादी एकांकीकार माना जा सकता है जिन्होंने एकांकी शिल्प-विधान तथा उसके स्वरूपों को लेकर विभिन्न प्रयोग किये है। विचारों में आप आदर्शवादी हैं पर वैसे थोथे आदर्श के प्रति आपकी श्रद्धा नहीं है जो समाज और व्यक्तित्व को रास्ते पर आगे ले आने में सहायक न बन सके। डा० रामकुमार वर्मा ने एकांकी के लिए संकलनत्रय को बहुत ही महत्वपूर्ण माना है पर सेठ जी उसमें स्थलसंकलन की अपेक्षा काल-सकलन पर बल देते हैं। यही कारण है कि सेठ जी के नाटक बहुत ही लम्बे हो गये हैं जो पाठ्य तो हो सकते हैं, अभिनय के लिए उपयुक्त नहीं माने जा सकते। आपने अपने एकांकियों में उपक्रम और उपसंहार की अवतारणा की है। उनका मत है कि इनके माध्यम से एकांकी का सौन्दर्य बढ़ जाता है।

इनकी कृतियों में पतन की पराकाष्ठा, निर्दोष की रक्षा, भय का भूत, सूखे संतरे, हंगर स्ट्राइक, फाँसी, अधिकार लिप्सा, चौबीस घण्टे, पाप का घड़ा, प्रलय और सृष्टि, कृषियज्ञ आदि उल्लेखनीय एकांकी हैं।

शिवाजी का सच्चा स्वरूप

स्थान—राजगढ़ दुर्ग की एक दालान

समय—संध्या

[दाहिनी ओर दालान का कुछ हिस्सा दिखाई देता है। दालान की छत पत्थर के खंभों पर है। उसके पीछे की दीवाल भी पत्थर की ही है। दालान के पीछे की ओर दाहिनी तरफ, दूर पर, गढ़ की फसील और कुछ बुर्जें दिख पड़ती हैं। बाईं तरफ सह्याद्रि-पर्वतमाला की शिखरावली दृष्टिगोचर होती है। कुछ शिखरों की ओट में सूर्य अस्त हो रहा है, जिसके प्रकाश से सारा दृश्य आलोकित है। दालान के सामने किले का खुला मैदान है। मैदान में एक ऊँचे स्तम्भ पर भगवा रंग का मराठा झण्डा फहरा रहा है। दालान में जाजम बिछी है, उस पर कीमख्वाब की गद्दी पर मसनद के सहारे शिवाजी वीरासन से किसी विचार में मग्न हैं। उनके स्वरूप और वेष-भूषा के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना इसलिए निरर्थक है कि एक भी भारतीय ऐसा नहीं जो उससे परिचित न हो। दालान के बाहर शस्त्रों से सुसज्जित दो मावली शरीर-रक्षक खड़े हुए हैं। बाईं ओर से मोरोपंत पिंगले का प्रवेश। मोरोपंत अधेड़ अवस्था का, गेहुए वर्ण का, ऊँचा-पूरा व्यक्ति है। वेष-भूषा शिवाजी से मिलती-जुलती है; केवल सिर की पगड़ी में अन्तर है। मोरोपन्त की पगड़ी शिवाजी की पगड़ी के सदृश मुगल ढंग की न होकर मराठी तरज की है। उसके मस्तक पर त्रिपुण्ड भी है।]

मोरोपंत—(अभिवादन कर) श्रीमन्त सरकार, सेनापति आबाजी सोनदेव कल्याण प्रान्त को जीत, वहाँ का सारा खजाना लूट कर आ गये हैं।

शिवाजी—(चौंक कर) अच्छा! (मोरोपन्त की ओर देखकर) देखो, पेशवा, सदा शुभ संवाद लाते। आबाजी सोनदेव हैं कहाँ?

मोरोपन्त—(वीरासन से बैठकर) श्रीमन्त की सेवा में अभी उपस्थित हो रहे हैं।

[कुछ देर निस्तब्धता। शिवाजी और मोरोपन्त दोनों उत्सुकता से बाईं ओर देखते हैं। कुछ ही देर में आवाजी सोनदेव बाईं ओर से आता हुआ दिखाई देता है। उसके पीछे हम्मालों का एक बड़ा भारी झुण्ड है। हर हम्माल के सिर पर एक एक हारा (बड़ा भारी टोकना) है। हम्मालों के झुण्ड के पीछे एक पालकी है। पालकी बन्द है। आवाजी सोनदेव भी अधेड़ अवस्था का ऊँचा-पूरा मनुष्य है। वेष-भूषा मोरोपन्त के सदृश है। आवाजी सोनदेव दालान में आकर शिवाजी का अभिवादन करता है। हम्मालों का झुण्ड और पालकी दालान के बाहर रहते हैं।]

शिवाजी—बैठो, आवाजी, कल्याण-विजय पर तुम्हें बधाई है।

आवाजी सोनदेव—(बैठते हुए) बधाई है श्रीमन्त सरकार को।

शिवाजी—कहो पैदल में मावलियों ने अधिक वीरता दिखायी या हेटकरियों ने ?

आवाजी सोनदेव—दोनों ने ही, श्रीमन्त सरकार।

शिवाजी—और घोड़सवारों में बारगिरों ने या शिलेदारों ने ?

आवाजी सोनदेव—इनमें भी दोनों ने ही, श्रीमन्त।

शिवाजी—सेना के अधिपति कैसे रहे ?

आवाजी सोनदेव—पैदल के अधिपति—नायक, हवालदार, जुमालदार और एक-हजारी, तथा घोड़सवारों के अधिपति—हवालदार, जुमालदार और सुभेदार, सभी का काम प्रशंसनीय रहा, श्रीमन्त सरकार।

शिवाजी—(हम्मालों की ओर देखकर मुस्कराते हुए) कल्याण का खजाना भी लूट लाये; बहुत माल मिला ?

आवाजी सोनदेव—हाँ, श्रीमन्त, सारा खजाना लूट लिया गया और इतना माल मिला जितना अब तक की किसी लूट में भी न मिला था। चाँदी, सोना, जवाहरात, न जाने क्या-क्या मिला। मैं तो समझता हूँ, श्रीमन्त, केवल दक्षिण ही नहीं उत्तर की भी विजय इस सम्पदा से हो सकेगी।

शिवाजी—(हम्माला के पीछे पालकी को देखकर) और उस मेणा में क्या है ?

आवाजी सोनदेव—(मुस्कराते हुए) उस मेणा···उस मेणा में श्रीमन्त, इस विजय का सबसे बड़ा तोफा है ।

शिवाजी—(उत्सुकता से आवाजी सोनदेव की ओर देखते हुए) अर्थात् ?

आवाजी सोनदेव—श्रीमन्त, कल्याण के सुभेदार अहमद की पुत्रवधू के सौन्दर्य का वृत्त कौन नहीं जानता ? उसे भी श्रीमन्त की सेवा के लिए बन्दी करके लाया हूँ ।

[शिवाजी की सारी प्रसन्नता एकाएक विलुप्त हो जाती है । उनकी भृकुटी चढ़ जाती है और नीचे का ओठ ऊपर के दाँतों के नीचे आ जाता है । आवाजी सोनदेव शिवाजी की परिवर्तित मुद्रा देखकर घबड़ा सा जाता है । मोरोपंत एकटक शिवाजी की ओर देखता है । कुछ देर निस्तब्धता रहती है ।]

शिवाजी—(भर्राये हुए स्वर में) मेणा को तत्काल इस पड़वी में लाओ ।

[आवाजी सोनदेव जल्दी से दालान के बाहर जाता है । शिवाजी एकटक पालकी की ओर देखते हैं; मोरोपंत शिवाजी की तरफ । कुछ ही क्षणों में पालकी दालान में आती है । ज्योंही पालकी दालान में रखी जाती है त्योंही शिवाजी जल्दी से पालकी के निकट पहुँचते हैं । मोरोपंत शिवाजी के पीछे-पीछे जाता है ।]

शिवाजी—(आवाजी सोनदेव से) खोल दो मेणा, आवाजी ।

[आवाजी सोनदेव पालकी के दरवाजे खोलता है । दरवाजे खुलते ही अहमद की पुत्र-वधू उसमें से निकल चुपचाप एक ओर सिकुड़ कर खड़ी हो जाती है । वह परम सुन्दरी युवती है । वेष-भूषा मुगल स्त्रियों के सदृश है ।]

शिवाजी—(अहमद की पुत्रवधू से) माँ, शिवा अपने सिपहसालार की इस नामाकूल हरकत पर आपसे मुआफी चाहता है । आह ! कैसी खुशो-नसीब खूबसूरती है, आपकी । आपको देखकर मेरे दिल में एक···

सिर्फ एक बात उठ रही है—कहीं मेरी माँ में आपकी सी खूबसूरती होती तो मैं भी वदसूरत न होकर एक खूबसूरत शख्श होता। माँ, आपकी खूबसूरती को मैं एक''सिर्फ एक काम में ला सकता हूँ—उसका हिन्दू-विधि से पूजन करूँ; उसकी इस्लामी-तरीके से इबादत करूँ। आप जरा भी परेशान न हों। माँ, आपको आराम, इज्जत, हिफाजत, और खबरदारी के साथ आपके शौहर के पास पहुँचा दिया जायगा; बिना देरी के, फौरन। **(आवाजी सोनदेव की ओर घूमकर)** आवाजी, तुमने ऐसा काम किया है, जो कदाचित् क्षमा नहीं किया जा सकता। शिवा को जानते हुए, निकट से जानते हुए, तुम्हारा साहस ऐसा घृणित कार्य करने के लिए कैसे हुआ? शिवा ने आज-पर्यन्त किसी मसजिद की दीवाल में बाल बराबर दरार भी न आने दी। शिवा को यदि कहीं कुरान की पुस्तक मिली तो उसने उसे सिर पर चढ़ा उसके एक पन्ने को भी किसी प्रकार की क्षति पहुँचाए बिना मौलवी साहब की सेवा में भेज दिया। हिन्दू होते हुए भी शिवा के लिए इस्लाम-धर्म पूज्य है। इस्लाम के पवित्र स्थान, उसके पवित्र ग्रन्थ, सम्मान की वस्तुएँ हैं। शिवा हिन्दू और मुसलमान प्रजा में कोई भेद नहीं समझता। अरे! उसकी सेना में मुसलिम सैनिक तक है। वह देश में हिन्दू-राज्य नहीं, सच्चे स्वराज्य की स्थापना चाहता है। आततायियों से सत्ता का अपहरण कर उदारचेताओं के हाथो में अधिकार देना चाहता है। फिर पर-स्त्री—अरे! पर-स्त्री तो हरेक के लिए माता के समान है। जो अधिकार-प्राप्त जन हैं, जो सरदार हैं, या राजा, उन्हें''उन्हें तो इस सम्बन्ध में विवेक, सबसे अधिक विवेक रखना आवश्यक है। (कुछ रुककर) आवाजी, क्या तुम मेरी परीक्षा लेना चाहते थे? इसलिए तो तुमने यह कृति नहीं की? शिवा ये लड़ाई-झगड़े, ये लूट-पाट, क्या व्यक्तिगत सुखों के लिए कर रहा है? क्या स्वयं चैन उड़ाना उसका उद्देश्य है? तब''तब तो ये रक्त-पात, ये लूट-मार, घृणित, अत्यन्त घृणित कृतियाँ हैं। शिवा में यदि शील नहीं, तो उसके सेनापतियों, सरदारों को शील का स्पर्श तक नहीं हो सकता। फिर तो हम में और इन्द्रिय-लोलुप लुटेरों तथा डाकुओं में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। अरे! तब तो हमारे जीवन से हमारी मृत्यु,

हमारी विजय से हमारी पराजय, कहीं श्रेयष्कर है। (मोरोपंत से) आह ! पेशवा, यह···यह मेरे···मेरे एक सेनापति ने···मेरे एक सेनापति ने क्या···क्या कर डाला ? लज्जा से मेरा सिर आज पृथ्वी में नहीं, पाताल में घुसा जाता है। इस पाप का न जाने मुझे कैसा···कैसा प्रायश्चित करना पड़ेगा ? (कुछ रुककर) पेशवा, इस समय तो मैं केवल एक घोषणा करता हूँ—भविष्य में अगर कोई ऐसा कार्य करेगा तो उसका सिर उसी समय धड़ से जुदा कर दिया जायगा।

[शिवाजी का सिर नीचे झुक जाता है। अहमद की पुत्र-वधू कनखियों से शिवाजी की ओर देखती है। उसकी आँखों में आँसू छलछला आते हैं। मोरोपंत शिवाजी की तरफ देखता है और आवाजी सोनदेव घबड़ाहट भरी दृष्टि से मोरोपंत की ओर।]

यवनिका

समाप्त

जगदीशचन्द्र माथुर

सामाजिक समस्याओं को लेकर एकांकीकार जगदीशचन्द्र माथुर साहित्य-क्षेत्र में आते हैं। आप जिस समय साहित्य-क्षेत्र में आते हैं, उस समय देश संक्रमणकालीन परिस्थितियों से गुजर रहा था। क्या साहित्य, क्या राजनीति और क्या संस्कृति— सभी संक्रमणकालीन अवरोधों, प्रवृत्तियों तथा असंयम से पराभूत था। हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में विभिन्न प्रयोग हो रहे थे; छायावादी युग रहस्यवाद से गठबन्धन के लिए तैयार था, नाटक के क्षेत्र में प्रसाद, डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट आदि ने इतिहास तथा संस्कृति को अधिक प्रश्रय दिया था, उसे अन्वेषण की वस्तु बनाने का प्रयत्न चल रहा था तथा रंगमंच की मान्यताओं की उपेक्षा की जा रही थी।

समाज राजनीतिक उथल-पुथल का केन्द्र था। महात्मा गांधी हमारे नेता थे और समाज गांधीवादी विचारधाराओं से परिचालित हो रहा था। समाज की भीतरी विषमताएँ और वर्ग-संघर्ष की भावना धीरे-धीरे घर बना चुकी थीं। धार्मिक पिशाच के समूल उन्मूलन और मानवता के प्रतिपादन का स्वर मुखर हो रहा था।

लोगों में संस्कृति के प्रति जागरूकता आ गयी थी। जीवन सुन्दर लगने लगा था। सभी साहित्यकार अपना उत्तरदायित्व संभालने के लिए अतीतगत आदर्शोन्मुख जीवन को अपना उद्देश्य बना रहे थे। आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद का सम्बल पाकर नवोदित साहित्यकारों को सम्पादन कराने का अवसर मिल रहा था।

ऐसी परिस्थिति में श्री माथुर ने समाज की अन्तर्निहित कमजोरियों को पहचानने का प्रयत्न किया है। श्री माथुर के जितने एकांकी निकले हैं, उन सभी को एक साथ रखकर देखने से ऐसा लगता है कि उन पर

प्राचीन परम्परा की छाया अवशेष रह गयी है जिसके परिणामस्वरूप इतिहास की नींव उन्हें अधिक आकर्षक लगी है पर जहाँ उनके भीतर का नाटककार विद्रोह कर उठा है, वहाँ उनकी चेतना समाज की समस्याओं के प्रति जागरूक दीख पड़ती है। ऐसी स्थिति में, समाज के खोखलेपन की ओर स्पष्ट संकेत श्री माथुर ने किया है।

श्री माथुर के एकांकियों में यथार्थवादी दृष्टिकोण कुछ अधिक निखर कर आया है। वर्ग-संघर्षों के विभिन्न पहलू प्रायः इनके नाटकों में प्रतिपादित किये गये हैं जिनके माध्यम से समाज की भीतरी कुण्ठाओं की ओर संकेत किया गया है। इनके लिए श्री माथुर ने व्यंग्य का सहारा लिया है। उन्होंने सामाजिक विषमताओं तथा कमजोरियों को बड़े ही स्पष्ट रूप में समाज के सामने प्रस्तुत किया है। मध्यवर्गीय जीवन की कहानी श्री माथुर के एकांकियों की भावभूमि है।

श्री माथुर के एकांकी नाटकों को देखने से यह स्पष्ट लगता है कि उन्होंने जीवन को बहुत नजदीक से और बड़ी गहराई के साथ देखा है। साथ ही, ईमानदारी के साथ उसे कलम का सहारा देकर सामने रखने का प्रयास किया है।

अपने एकांकियों में श्री माथुर ने कहीं-कहीं गीतों का प्रयोग भी किया है और संगीत तत्व की उपयोगिता को स्वीकार किया है। उनका विचार है कि भारतीय रंगमंच बिना संगीत के सफल नहीं हो सकता और इस प्रकार उन्होंने प्रसाद की गीत-परम्परा का अपने एकांकियों में प्रयोग किया है।

साथ ही हिन्दी रंगमंच की प्रगति और उसके अनुकूल नाटकों की रचना श्री माथुर की अपनी मौलिक देन है। उनके संवाद संक्षिप्त किन्तु मर्मस्पर्शी होते हैं। स्वाभाविकता से दूर जाना उन्हें तनिक भी मान्य नहीं है। श्री माथुर के एकांकियों में प्रयुक्त भाषा सरस और परिष्कृत है। छोटे-छोटे वाक्यों में, सहज और सरल ढंग से, बड़ी से बड़ी बात कहने की पूर्ण क्षमता इनके पात्रों में है। उनकी भाषा दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली बोलचाल की भाषा कही जा सकती है।

चरित्र-निर्माण और मनोविज्ञान के सफल प्रयोग ने श्री माथुर को जनता का नाटककार बना दिया है। उनके पात्र स्वाभाविकता के साथ रंगमंच पर आते हैं और अपने गतिशील मनोविज्ञान से परिचालित होते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे पास में बैठा हुआ मित्र ही यकायक बोल उठा है।

'भोर का तारा' और 'ओ मेरे सपने' श्री माथुर के दो एकांकी-संग्रह आये हैं जो सभी दृष्टियों से उल्लेखनीय हैं।

कलिंग-विजय

[भवन अच्छी तरह सजा हुआ है । एक बड़ी सी चौकी दीवार से लगी हुई रखी है, उस पर सुन्दर कालीन और तोषक रखे हुए हैं । पीछे की ओर खिड़की है । मूढ़े के ढंग के कई उपादान रखे हुए हैं । इधर-उधर धूप-दान रखे हैं और एक तिपाई पर दीपक जल रहा है ।

नन्दिनी सब वस्तुएँ सजाकर ठीक रखने में लीन है । कभी तकिया ठीक करती है, कभी चादर बिछाती है, कभी दूसरे दीपक को पहले की सहायता से जलाती है । खिड़की के परदे खोलती है । बीच-बीच में वह गायिका से बातें करती जा रही है । गायिका उत्सुकता से प्रश्नों की झड़ी लगा रही है ।]

गायिका—तो सम्राट यहीं आयेंगे ?

नन्दिनी—हां—

(संलग्न है ।)

गायिका—अभी ?

नन्दिनी—हां, अभी ।

गायिका—मैं उनसे मिल नहीं सकती ?

नन्दिनी—गायिकाओं के लिए स्थान नियत है ।

गायिका—कहां ?

नन्दिनी—बराबर वाले कक्ष में । तुम्हें वहीं बैठकर गाना होगा ।

गायिका—और सम्राट यहां बैठकर सुनेंगे । बड़ी अनहोनी-सी बात है ! संगीत में केवल स्वर ही तो नहीं होता ।

नन्दिनी—संगीत के स्वर में ही सब कुछ हो सकता है । तुम्हारी कला की परख तो इसी में होगी ।

गायिका—तो क्या सम्राट कला के पारखी हैं ?

नन्दिनी—कला के पारखी भी हैं और सौन्दर्य के भी। इन दोनों का संयोग अनुचित है।

गायिका—क्यों ?

नन्दिनी—यह कुमारी रेखा से पूछो। तभी तो उन्होंने गायिकाओं के लिए स्थान नियत किया है।

गायिका—तो आज कुमारी रेखा सम्राट् को कलिंग-विजय पर बधाई देंगी ?

नन्दिनी—और फिर यह तैयारी किस लिए ! धनुष आज तीर को बधाई देगा। यह सम्राट की विजय नहीं, कुमारी रेखा की विजय है।

गायिका—यह कैसी पहेली है ? सम्राट् प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त और किसकी सलाह लेते हैं ?

नन्दिनी—गायिका, तुम अधिक जानना चाहती हो ? यह पाटलिपुत्र के राजमहल की बातें हैं, तुम नहीं समझ सकोगी।

गायिका—तो क्या कलिंग-विजय प्रधान मन्त्री की सलाह से नहीं हुई है ?

नन्दिनी—कलिंग-विजय क्या, सम्राट् के सभी युद्धों, उनकी सारी योजनाओं में प्रधान मन्त्री राधागुप्त की पुत्री कुमारी रेखा का हाथ है, समझीं ?

गायिका—राज्य-कुटुम्ब की हत्याओं में भी ?

नन्दिनी—हाँ, अब कौन है जो अशोक के पाटलिपुत्र की गद्दी छीन सके ? राह के सभी कांटे तो दूर हो गये। शत्रु सामन्त मौत के घाट उतार दिये गये। एक भाई सुशीम तक्षशिला में पड़े हैं, और दूसरे वीतशोक को देश-निकाला है। यह सब क्या प्रधान मन्त्री की सलाह से ही हुआ है ?

गायिका—तो ?

नन्दिनी—सम्राट् को बढ़ावा देने वाली केवल एक शक्ति है—कुमारी रेखा के वचनों की शक्ति, नारी-शक्ति !

गायिका—यह कैसी नारी-शक्ति है जिसके कारण मानव-रक्त बहे ?

नन्दिनी—रक्त ? हँ हँ हँ ! (गम्भीर होकर) गायिका, कुमारी रेखा की आँखों में एक दूसरा रक्त है, आकांक्षा का रक्त, सारे भारतवर्ष की महारानी बनने का रक्त (रुक जाती है—बाहर पदचाप) यह लो सम्राट् और कुमारी रेखा आ भी पहुँचे। तुम जाओ ! (इशारा करती हुई) इसी कक्ष में बैठो। वीणा लाई हो ?

गायिका—मैं वैसे ही गाती हूँ।

नन्दिनी—अच्छा तो बैठो। जब मैं कहूँ तब गाना आरम्भ कर देना—अपने उसी सुरीले ढंग में।

[गायिका का बायीं ओर प्रस्थान। नन्दिनी एक तरफ खड़ी हो जाती है—सम्राट् और रेखा दाहिनी ओर से आते हैं। नन्दिनी का झुक कर प्रस्थान।]

सम्राट्—और, रेखा, जानती हो उसके अन्तिम शब्द क्या थे ? उसके अन्तिम शब्द क्या थे—'चंडाशोक, एक दिन तुम अपने शत्रुओं के ही दास बनोगे !'

रेखा—इतनी हिम्मत ?

अशोक—दूसरे क्षण उसका मस्तक मेरे पैरों पर लोट रहा था, लेकिन कितने भयानक शब्द थे वे—सूने मसान की तरह भयानक !

रेखा—पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक !—छिः सम्राट्। गिरती हुई दीवार भी घोर शब्द करती है। पर उसके बाद रहता क्या है—मिट्टी का ढेर !

अशोक—मिट्टी का ढेर—(मन्द स्वर में)···उपेन्द्र·····मिट्टी का ढेर······

अशोक—हाँ ! (बैठते हुए) सिवा उसकी बहन के। कलिंग की राजकुमारी अभी तक अशोक की नजर से परे है।

रेखा—सम्राट् उस पर नजर डालना चाहते हैं क्या ?

अशोक—तुम्हें ईर्ष्या हो चली, रेखा ? (हँसता है।) सुना है वह तो कभी की बौद्ध भिक्षुणी हो गयी।

रेखा—वह शत्रु-कन्या है सम्राट् ! उसके भाई के अन्तिम शब्दों के अनुसार आप उसके दास हो सकते हैं।

अशोक—अभी तो तुम कह रही थीं कि मेरा शत्रु है ही कौन ! लेकिन इस हिसाब से तो मेरा सबसे बड़ा शत्रु मेरे निकट ही है।

रेखा—निकट ?

अशोक—हाँ ! इतने निकट कि अपने घने केश-पाश में उलझाकर चाहे जब मुझे दीन-हीन कर दे।

रेखा—(समझकर) सम्राट् को यह दीनता अखरती तो नहीं ?

अशोक—लू से झुलसे हुए पेड़ से पूछो कि उसको सावन की मीठी हवा के आगे झुकना अखरता है ? (रुककर) जानती हो मैं कहाँ से आ रहा हूँ ?

रेखा—राजमहल से ?

अशोक—नहीं, वन्दी-गृह से। तुम्हारे पिता, प्रधान मन्त्री, मेरे साथ थे। यदि वे न होते तो शायद उन हजारों वन्दियों को देखना मेरे लिए असम्भव हो जाता। उस नरक के बाद यह सुख, यह शान्ति, यह सौन्दर्य, कितने भले जान पड़ते हैं !

रेखा—सम्राट् कोमल-हृदय हैं।

अशोक—(खड़ा होता हुआ) मैं कोमल-हृदय ?…रेखा ! जानती हो, आर्यावर्त मुझे चंडाशोक के नाम से पुकारता है। चंडाशोक, प्रचंड निर्दय, निर्मम अशोक—कोमल-हृदय ! …जिस दिन मैंने आकांक्षा की ज्वाला को अपने हृदय में स्थान दिया, उसी दिन अपने हृदय को पत्थर की दीवारों से बाँध दिया। समझी ?

रेखा—सम्राट् ! उच्चाकांक्षा की ज्वाला को धधकाये रखना विरलों

का ही काम है। साधारण मनुष्य जिनमें कोई अपनापन नहीं, शक्ति नहीं, वे क्या समझें उच्चाकांक्षा किसे कहते हैं ?

अशोक—(खिड़की के सहारे खड़ा होकर बाहर देखता हुआ) और जो साधारण नहीं हैं, वे ही क्या समझ पाते हैं ? (बाहर कुछ देख कर)...वह देखो एक और तारा टूटा।

रेखा—टूटने दीजिए सम्राट् ! हम-आप उसे रोक नहीं सकते !

अशोक—सुनो रेखा ! तुम मानोगी नहीं, लेकिन मुझे कभी-कभी यह आकाश और उसके तारे ठीक इस जगत और उसके जीवों के प्रतिबिम्ब जान पड़ते हैं।

रेखा—(उपहासपूर्ण स्वर में) कविता भी क्या अच्छी चीज है—सम्राट् !

अशोक—(मानो सुना ही न हो) देखती हो न ! इन लाखों-करोड़ों स्थिर तारों में से एकाध कैसे आप-ही-आप, अरमानों से तड़पकर, तेजी से दौड़ पड़ते हैं।

रेखा—जब वे चमकते हैं तो आकाश आलोकित हो उठता है।

अशोक—लेकिन उसके बाद, उसके तुरन्त बाद ! अरमानों की आग का वह टुकड़ा लोहे के आकाश से टकराकर चूर-चूर हो जाता है। और ...और वे सीधे-सीधे करोड़ों तारे चुपचाप इस खेल को देखते रहते हैं। ...(गहरी साँस लेकर बैठता हुआ) रेखा ! हमारे अरमान और हमारी आकांक्षाएँ हमें मिटाने के लिए पैदा होती हैं।

रेखा—सम्राट् ! आप तो कविता कर चुके; अब मैं भी करूँगी। सुनिए, आकाश में जहाँ सैकड़ों छोटे-छोटे तारे हैं, वहाँ एक चन्द्रमा भी होता है।

अशोक—इसका अर्थ ! (समझता हुआ)......ओह !......समझा !

(हँसता है।)

रेखा—और देखिए, धरती पर कुमुदिनी भी होती है। अब चन्द्रमा को चाहिए कि अपनी कोमल किरणों से कुमुदिनी को जगा दे। लेकिन वह कैसा चन्द्रमा, जो आते ही काले बादलों के पीछे छिपकर उसे और भी मुरझाये। कहिए कैसी रही सूझ ?

अशोक—सूझ तो बुरी नहीं, लेकिन तुम कविता के प्रति निठुर हो।

रेखा—और आप मेरे प्रति निठुर हैं।

अशोक—अशोक रेखा के प्रति निठुर हो, यह कैसे हो सकता है? जिसकी इच्छा-पूर्ति के लिए मैंने कलिंग पर चढ़ाई की थी, जिसके मनोरंजन के लिए मैंने पाटलिपुत्र को एक-से-एक भव्य महलों से भर दिया, जिसके क्रोध के कारण मैंने अपने छोटे भाई वीतशोक को राजधानी से निर्वासित किया।

रेखा—(चौंककर) बस, सम्राट्! वीतशोक की याद दिलाकर सूखे घाव को हरा न कीजिए।...अब भी उस दिन की याद करते ही काँप उठती हूँ।

अशोक—आज इस बात को दो वर्ष होने को आये। सच बताओ, क्या वीतशोक ने सचमुच तुम्हारे साथ नीचता का व्यवहार...।

रेखा—आपको विश्वास नहीं हुआ?—अब तक? यह भाई की ममता है या मेरा उलाहना? सम्राट्, मेरे पास जो कुछ था—अपना हृदय, अपने अरमान, अपना प्रेम, सब आपके चरणों पर निछावर कर दिया। यदि आपको ठुकराना ही है तो एक बार जोर से ठोकर क्यों नहीं मार देते? यों जला-जला कर मेरा अपमान न कीजिए।

अशोक—ओ!...तुम रूठ गयीं? मैंने तो यों ही पूछा था, क्योंकि कभी-कभी जाने क्यों मुझे भय होता है कि उसे निर्वासित कर मैंने उसके साथ अन्याय तो नहीं किया। अभी मैंने गुप्त दूतों से सुना था कि ताम्रलिप्ति के पास एक बौद्ध विहार में वह भिक्षु हो गया है। मैंने सोचा कि शायद मैंने उसके चरित्र के विषय में गलत अनुमान किया हो और तुमने भी...(सहसा रेखा की ओर देखकर)—रेखा यह क्या कर रही हो?

रेखा—कुछ नहीं। इस हार के फूल मसल रही हूँ।

अशोक—कौन-सा हार?

रेखा—मैंने पिरोया था...आज।

अशोक—आज!...ओह!...तो लाओ मुझे दो न।

रेखा—किसलिए दूँ?

अशोक—किसलिए ?...दूँ । (सोचकर)...मेरी कलिंग-विजय के लिए ।

रेखा—(अर्थ भरे स्वर में) बस ! इसीलिए ?

अशोक—रेखा !

रेखा—सम्राट्, याद है आपको एक बार चाँदी-सी चमकती हुई गंगा की लहरों पर हम लोग नौका-विहार के लिए निकले थे । तब आपने अपने विशाल राजभवन की ओर देखकर कहा था—'रेखा ! न जाने कब तुम इस भवन को सुशोभित करोगी ?' याद है, मैंने क्या उत्तर दिया था ?

अशोक—याद है !

रेखा—मैंने कहा था कि जब आप सारे भारतवर्ष के चक्रवर्ती सम्राट् हो जायँगे, तभी मैं भी महारानी हो सकूँगी । (रुककर)... आज कलिंग-विजय के बाद आपके समान आर्यावर्त में कोई सम्राट् नहीं है ।

अशोक—तुम्हारा संकेत समझ रहा हूँ, रेखा !

रेखा—तो फिर क्या यह हार आज हम दोनों को सदा के लिए बाँध न देगा ?—(आतुरता के साथ)—सम्राट्, आज हमारे निस्सीम सुख की रात्रि है । आज हमारे उपवन में वसंत छाया है । आज मेरे जीवन की साधना सफल हो रही है । न जाने कब से इस क्षण की बाट जोह रही थी ! मेरा हार स्वीकार करो, अशोक !

अशोक—ठहरो ।

रेखा—ठहरूँ ?

अशोक—रेखा, तुम्हारे सुख में मेरा सुख है, तुम्हारे आनन्द में मेरा आनन्द है । पर...आज न जाने क्यों मेरे हृदय में कोहरा-सा छाया हुआ है । रह-रहकर उपेन्द्र के अन्तिम शब्द कानों में गूँज उठते हैं; रह-रहकर उन सहस्रों कैदियों का चित्र मेरी आँखों के सामने खिंच जाता है, रह-रहकर वीतशोक के निर्वासन का दृश्य याद आ जाता है । कह नहीं सकता क्यों अनमना हो रहा हूँ ।...रेखा ! मैं अपने-आपको भुलाना चाहता हूँ, रात्रि के अंचल में अपनी मलिनता खोने ।... कोई साकिन नहीं है ?

रेखा—(उसांस लेकर) सम्राट्, आप की यह निगोड़ी कल्पना मेरी सबसे बड़ी वैरिन है। (कुछ सँभलकर)···ए, नन्दिनी···नन्दिनी।

(नन्दिनी का प्रवेश)

रेखा—वह नयी गायिका आयी है ?

नन्दिनी—जी, वह तो आप ही आ गयी।

रेखा—उससे कहो कि सम्राट् उसका गाना सुनेंगे।

(नन्दिनी का बायीं ओर प्रस्थान)

अशोक—और सुनो (नन्दिनी रुक जाती है), उससे कहो कि ऐसा गीत गाये जो हृदय को गुदगुदा दे—प्यार का राग—नये वसंत की कोयल का राग।

(नन्दिनी जाती है।)

रेखा—इस गायिका का स्वर अत्यन्त मधुर है। आज यहीं मेरे भवन के पास राज-मार्ग पर आप-ही-आप गा रही थी। मैंने बुलाया। तुरन्त तैयार हो गयी मानो मेरी बाट जोह रही हो !

अशोक—हूँ।

[इतने में बायें नेपथ्य से अत्यन्त सुरीले स्वर में गाना—]

गीत

अमल, तरल, मधुर, चपल, प्यार का सुराग री।
सजल पवन परस विटप, मर्मर ध्वनि जाग री।
पुलक रोक, पलक चपल, गति मय कल गा[illegible] गात।
नवल सरित-युवति चली, सजल शिला पात पात।
पिघल-पिघल हिमगिरि उर, बहता वन बाग री।
अमल, तरल, मधुर, चपल, प्यार का सुराग री।

[अशोक विभोर होकर सुनता है। गीत सहसा बन्द हो जाता है।]

अशोक—(मानो स्वप्न से जागकर)—कितना सुन्दर है, कितना मधुर—'अमल, तरल, मधुर, चपल, प्यार का सुराग री !' रेखा ! इसके गायन में तो प्रभात के पक्षियों की-सी नवीनता है, नूपुर की-सी चंचल ध्वनि ! तुमने उसे कमरे में क्यों बिठा रखा है ? यहाँ बुलाओ न !

रेखा—गायिका को देखने से उसका स्वर-माधुर्य घट जायगा सम्राट् !

अशोक—(हँसते हुए)—फिर वही ईर्ष्या ? तुम मुझे कमजोर समझती हो !

रेखा—नहीं, अपने को !

अशोक—कुछ भी हो, उसके गाने में तल्लीनता है, किशोर हृदय की झंकार।...एक बात सोचता हूँ मैं, रेखा !

(नन्दिनी का प्रवेश)

नन्दिनी—और ?

अशोक—हाँ अवश्य ! (नन्दिनी का प्रस्थान) एक बात सोचता हूँ मैं। क्या इस गायिका के आनन्दित स्वर के पीछे सच ही एक ऐसा हृदय है—जो हर्ष से फूला न समाता हो ? क्या उषा और संध्या की किरणों को छूकर जो चिड़ियाँ बरबस गा उठती हैं—वे सभी सुखी हैं ?...कौन जाने रेखा, उसके इन सुहावने गीत के नीचे एक जर्जर और पीड़ित हृदय छिपा हो ?...कौन जाने ?

[पुनः नेपथ्य से गाने का स्वर। प्रत्येक पद के बाद स्वर रुक जाता है। इस बार स्वर में एक हल्की वेदना है मानो बीते करुण अनुभव की कहानी सुना रही हो—]

गीत

सुना मेरी वंशी यह तान !
करुण उस गाथा के सोपान।
वनश्री वैभव का विस्तार, सुना, ऐसे सागर के पार
सरस फूलों का सुन्दर देश, अमर जिसका गुण अनुप, उदार
सुरभि सुमनों की उमगी आग।
सुना मेरी वंशी यह तान !

(गीत रुकता है।)

अशोक—रेखा—स्वर बदल गया है। तुम सुन नहीं रही हो।

(रेखा चुप, फिर गीत चलता है।)

भ्रमर का सुन कर मधुर निनाद, गंध का पा मधुमय संदेश
पवन की चंचल, लहरी एक, पार कर अनजाने से देश
खोजती पहुँची उस उद्यान।
सुना मेरी वंशी वह तान!

(गीत रुकता है।)

अशोक—यह तो कहानी-सी जान पड़ती है।

रेखा—मुझे नहीं मालूम था कि यह गायिका इतनी चतुर है।

अशोक—और सुनें।

(गीत पुनः)

भ्रमर का देखा उसने रूप, भ्रमर का देखा सुन्दर वेश
कहा 'प्रिय चलो हमारे साथ, और जीतो तुम देश विदेश
करो नव सुमनों का रस पान,
सुना मेरी वंशी वह तान!

(फिर गीत रुकता है।)

अशोक—उसके बाद ?

(हाथ पर ठोड़ी रखकर बैठता है।)

रेखा—लेकिन सम्राट्, यह गीत तो बड़ा अटपटा-सा जान पड़ता है।

अशोक—उसके बाद ?

(गीत पुनः चल निकलता है—स्वर में तीव्रता)

अरे, क्या था कोई अभिशाप, अरे क्या मायाविनि का जाल
कि जो आकांक्षा का बन दास शान्ति सुन्दरता का बन काल
भ्रमर ने विश्व विजय ली ठान।
सुना........................!

अशोक—फिर क्या हुआ ?

रेखा—आप तो ऐसे सुन रहे हैं मानो आकाशवाणी हो।

अशोक—सुनो रेखा, निश्चय ही इसमें कुछ भेद है।

रेखा—(चौंककर) क्या ?

(गीत फिर आरम्भ हो जाता है ।)

ध्वंस करता फूलों के पंख, छेदता कलियों का लघुगात
मसलता किंशुक पीत पराग, करोड़ों जीवों पर आघात
रुधिर से लाल चला नादान ।
सुना…………………… !

अशोक—ओह !

रेखा—मैं उसे बन्द कराती हूँ । नंदि……

अशोक—ठहरो !

रेखा—नन्दिनी !

(गायिका का प्रवेश)

रेखा—कौन तुम गायिका ? मेरी आज्ञा के विरुद्ध ।

(गायिका आगे बढ़ रही है ।)

अशोक—ठहरो रेखा !

रेखा—नन्दिनी, नन्दिनी……

[गायिका अशोक को लक्ष्य करके गान आरम्भ कर देती है, क्रुद्ध अर्थ भरे स्वर में ।]

कहाँ वह मधुर मधुरतम राग ? कहाँ वह यौवन वारि-विलास ?
कहाँ ऊषा रंजित मधुहास ? एक बस अभिलाषा की प्यास ?
बने हो पुष्पराज पाषाण !
सुना मेरी वंशी यह तान !

(नन्दिनी का प्रवेश ।)

रेखा—(अत्यन्त क्रोध में) नन्दिनी ! यह मेरी आज्ञा के बिना यहाँ कैसे आयी ? ले जाओ इसे !

(नन्दिनी उसकी ओर बढ़ती है ।)

गायिका—मैं नहीं जा सकूँगी । मैं सम्राट् से बातें करूँगी……

रेखा—इतना साहस !

(उठना चाहती है, अशोक रोकते हैं ।)

अशोक—ठहरो रेखा—(नन्दिनी से)—नन्दिनी, इसे छोड़ दो !

(नंदिनी छोड़कर जाती है। गायिका से)—गायिका ? कौन हो तुम ? ...सच बताओ, मेरी हत्या करने भेजी गयी हो क्या तुम ?...तो तुम भूलती हो (छाती में से कटार निकालकर)...देखती हो यह कटार ?

(खड़ा हो जाता है।)

गायिका—सम्राट् मेरी गर्दन आपके सामने है। (झुकाकर) आप वार कर सकते हैं। जहाँ रक्त का सागर आपने बहाया, वहाँ एक बूंद और बहाने से न चूकिए।

अशोक—हूँ ! (बैठ जाता है।)...तो क्या तुम्हारे गीत का निर्दय फूलों का राजा—भ्रमर—मैं ही हूँ ?

गायिका—मेरा गीत तो कहानी है सम्राट् ! आपका जीवन कठोर सत्य है।

रेखा—यह क्या सुन रहे हैं सम्राट् आप ?

अशोक—कठोर सत्य।...गायिका तुम जानती हो, किससे बातें कर रही हो ?

गायिका—जानती क्यों नहीं।...मैं बात कर रही हूँ पाटलिपुत्र के राजा से—जो कल ही एक लाख निर्दोष मनुष्यों का रक्त बहाकर भारत-का सम्राट् हुआ है।

रेखा—क्या ?

गायिका—कुमारी—युद्ध-क्षेत्र में अब भी सैंकड़ों मनुष्य तड़पड़ा रहे हैं; अब भी अधमरे घायलों की कराहों से आकाश गूंज रहा है।... सुना आपने सम्राट् !

रेखा—पागल हो क्या, गायिका ?

गायिका—मेरे साथ चलिए ! मैं आपको दिखाऊँगी, मृत्यु का तांडव-नृत्य ! आपके हृदय है, उसमें रक्त है, वैसा ही रक्त और वैसे ही सहस्रों हृदय धूल में सने पड़े हैं। सच बताइए सम्राट्, क्या यही आपकी विजय है।

अशोक—मेरी विजय ?

गायिका—सम्राट्, कलिंग की राजधानी उजड़ी-पड़ी है। कलिंग

का हरा-भरा देश वीरान पड़ा है। सच बताइए—क्या यह आपकी विजय है ?

अशोक—मेरी विजय !!

गायिका—और सुनिए सम्राट्, एक लाख से ऊपर युवकों की लाशें मैदान में पड़ी हैं; सहस्रों आपके बन्दी-गृह में सड़ रहे हैं। और जो बचे हैं, उनकी आत्माएँ झुलस चुकी हैं—मर चुकी हैं। बताइए, इसी में आपकी विजय है ?

रेखा—चींटों की दुर्बल नीति किसी और को समझाना गायिका ! सम्राट् को परामर्श देना तुम्हारा काम नहीं है।

अशोक—कहे जाओ गायिका, अशोक की आँखें खुल रही हैं।

रेखा—यह क्या कह रहे हैं, सम्राट्, एक तुच्छ भिखारिणी की बातों में पड़कर ?

गायिका—सम्राट्, आपकी जीत ही में आपकी सब से भारी हार है। आपने कलिंग की धरती को जीता है, उसकी आत्मा को नहीं।

रेखा—आत्मा को जीतना ऋषियों का काम है। जिनके पास भुज-बल है, वह मर भी सकते हैं और मार भी।

गायिका—भुज-बल ? सम्राट् ने किस भुजबल का उपयोग किया था। उन हज़ारों सैनिकों का ही तो जिन्हें आप पाटलिपुत्र से लाये थे। उनसे पूछिए क्या इस हत्या को वे जी से चाहते हैं।

रेखा—चाहना और सोचना सैनिकों का कर्तव्य नहीं है। उनका तो कर्तव्य है—लड़ना, मरना और मारना।

गायिका—एक बात रह गई—कुमारी !···भूल जाना ! भूल जाना कि शत्रु के भी एक नन्हा-न्यारा गाँव है, स्वप्न-सी मधुर स्त्री, गुलाब-सा कोमल बच्चा है।···लेकिन, सम्राट् ! आपके सैनिकों के भी तो हृदय में प्यार है। धनुष खींचते समय क्या वह प्यार उमड़ेगा नहीं ? अपने शत्रु पर हाथ चलाते समय क्या उनका दिल दुखेगा नहीं ? कितना भयानक विचार है यह !

अशोक—(अत्यन्त करुण स्वर में) मेरा दिल तो नहीं दुखता, गायिका।

रेखा—आपको हो क्या गया है—यह दुर्बलता एक सम्राट् को शोभा नहीं देती।

गायिका—कुमारी, क्या सम्राट् मनुष्य नहीं होते ?

रेखा—मनुष्यता के माने कायरता नहीं है। अशोक साहसी हैं—वीर हैं !

अशोक—रेखा, मैं साहसी हूँ—क्या इसीलिए मेरा दिल दूसरों के लिए न दुखेगा ?

रेखा—सम्राट् !

गायिका—दुखेगा क्यों नहीं सम्राट्, आपका दिल भी दुखेगा। हिमालय के पाषाण-हृदय में से शीतल नदियाँ बह निकलती हैं।

रेखा—गायिका ! मैं जानना चाहती हूँ कि तुम किस अधिकार से आर्यावर्त के सम्राट् को उपदेश देने आयी हो।

गायिका—अधिकार ? मेरा तो वही मनुष्यता का अधिकार है। मेरा तो वही एक सन्देश है।

रेखा—क्या ?

गायिका—(प्रत्येक शब्द पर जोर देते हुए) मनुष्य दूसरों को मारने के लिए पैदा नहीं हुआ, दूसरों के लिए जीने के हेतु पैदा हुआ है !

अशोक—(थोड़ी देर सब के चुप रहने के बाद) सुनती हो, रेखा ! ......(मन्द स्वर में) मैं तो अब तक अपने लिये जीता रहा, बिल्कुल अपने लिए।

रेखा—जो अपने लिये जी सकते हैं, वही दूसरों का पालन कर सकते हैं।

गायिका—तुम भूल रही हो कुमारी ! जो अपने लिए जीते हैं, वे दूसरों का पालन नहीं कर सकते—केवल दूसरों की दया के पात्र हो सकते हैं।

अशोक—दया !

गायिका—हाँ सम्राट्, आप आज दया-पात्र हैं, एक भिखारी से भी ज्यादा। जानते हैं क्यों ? क्योंकि आपको कोई प्यार नहीं करता। आप अकेले हैं।

रेणा—बस, गायिका—मूर्खता की भी कोई सीमा होती है, और सहनशीलता की भी।

अशोक—(अपने आप दुहराता हुआ) मुझे कोई प्यार नहीं करता, मैं अकेला हूँ? यह क्या सच है, गायिका?

गायिका—बिल्कुल सच; आपको कौन प्यार करता है? आप तो आकांक्षा के पुजारी हैं, पतझड़ के पेड़ की तरह अकेले, पत्ते भी जिसका साथ नहीं देते।

रेणा—हुँ···हुँ···हुँ···हुँ···कैसी विचित्र बात है। भारतवर्ष के सम्राट् अशोक अकेले हैं।...उन्हें कोई प्यार नहीं करता?···हुँ···हुँ···हुँ···। कैसी अनोखी बात है! हुँ···हुँ···। (सहसा गम्भीर होकर) लेकिन उनकी करोड़ों प्रजा क्या मर गयी है?

गायिका—प्रजा? प्रजा उन्हें प्यार नहीं करती, उनसे डरती है।

अशोक—(स्वप्न से) प्रजा···मुझसे···डरती है।

रेणा—(गायिका की ओर कदम बढ़ाकर) और उनके विश्वस्त मंत्री और सेनापति?

गायिका—जो केवल आज्ञा मानना और सलाह देना जानते हैं, वे अशोक को प्यार क्या करेंगे!

अशोक—(करुण स्वर में) रेणा!

रेणा—(जो अब गायिका के ठीक निकट पहुँच गयी है—उसे घूरते हुए) और···और···और मैं?

गायिका—तुम?

रेणा—हाँ मैं! उद्दण्ड नारी! बताओ—क्या मैं भी सम्राट् को प्यार नहीं करती? बताओ···बताओ?

अशोक—रेणा, रेणा, मैं तो तुम्हें प्यार करता हूँ, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।

गायिका—लेकिन सम्राट्, कुमारी रेणा आपको प्यार नहीं करती।

अशोक—क्या?

रेणा—झूठ···झूठ···बिलकुल झूठ!

(पीछे हट जाती है, मानो धक्का लगा हो।)

गायिका—कुमारी रेखा ! गुस्सा करना व्यर्थ है। मैं सब कुछ जानती हूँ, सब कुछ !

अशोक—क्या जानती हो तुम गायिका ? रेखा का प्यार मेरी एकमात्र निधि है। उसे तो मुझ से न छीनो !

रेखा—आप उससे भीख माँग रहे हैं, सम्राट् ?

अशोक—मुझे कुछ नहीं सूझ पड़ रहा है। रेखा···जैसे रास्ता भूल गया हूँ।···गायिका···गायिका ! बताओ न क्या जानती हो तुम ?

गायिका—तो सुनिए सम्राट्, मैं जानती हूँ कुमारी रेखा की केवल एक लालसा है, एक अभिलाषा—भारत की साम्राज्ञी होना और उसके लिए एक साधन है, एक—आपके प्रेम की विजय !!

रेखा—सुन रहे हैं सम्राट् इस पागल औरत का प्रलाप ?

(अशोक चुप है।)

गायिका—हाँ, सुनिए मेरा प्रलाप ! अवश्य सुनिए ! रेखा कुमारी की धधकती हुई लालसा का हाल सुनिए। उनकी आकांक्षा जिसमें उनका सारा प्रेम, सारी मानवता भस्म हो जाती है, जिसके मार्ग में आने वाले सभी रोड़ों को, चाहे वह निर्दोष देश हों, चाहे निकट-से-निकट सम्बन्धी—

रेखा—(तेजी से उठकर—गायिका के सम्मुख जाकर उसे टोकते हुए) चुप हो, मूर्ख नारी ! क्या तू भी मेरी ज्वाला में भस्म होना चाहती है ?···सम्राट् पर मेरा हक कोई नहीं छीन सकता—कोई नहीं—मैं कहती हूँ, कोई नहीं। तू कौन है जो मेरी शक्ति को चुनौती···

अशोक—(बीच में ही बोल पड़ता है।)—रेखा, रेखा !!

गायिका—शक्ति ? रक्त बहाने वाली नारी-शक्ति···?··· अच्छा तो सुनो, रेखा कुमारी—मैं गायिका नहीं हूँ—मैं आ रही हूँ, ताम्रलिप्ति से।

अशोक—ताम्रलिप्ति ?

(रेखा चौंककर पीछे हट जाती है।)

गायिका—हाँ सुदूर गौड़ प्रदेश में ताम्रलिप्ति से। वहाँ एक बौद्ध मठ है। नगर के बाहर। उसी मठ में एक भिक्षु रहता है। बड़ा सौम्य, बड़ा शान्त भिक्षु है वह। उसके मुख से तेज टपकता है। पहले वह

राजकुमार था; राजा का छोटा भाई, जिनमें वह विश्वास करते थे, जिसे सदा प्यार करते थे; लेकिन एक दिन राजा की प्रेयसी ने उस पर दोष लगाया—चरित्र-हीनता का। और···और राजा ने उसे निकाल दिया। उस भिक्षु का नाम है—वीतशोक।

अशोक—वीतशोक!

रेखा—वीतशोक!

(रेखा और पीछे हट जाती है।)

गायिका—चौंकिए मत सम्राट्, आप स्वयं नहीं जानते कि आपने क्यों अपने प्यारे भाई वीतशोक को देश-निकाला दिया।···क्या वे चरित्र-भ्रष्ट थे? झूठ! (अपनी चोली से एक कागज निकालती हुए) यह लीजिए। इस पत्र के अक्षर आप पहचानते हैं?

[अशोक को वह पत्र देती है; रेखा उस पत्र की ओर झपटती है। पर गायिका फुर्ती से अशोक के हाथ में दे देती है।]

रेखा—(कांपते हुए स्वर में) सम्राट्, यह असत्य है, यह झूठ है।···ओह!

अशोक—ठहरो, रेखा—

[सम्राट् पढ़ते हैं, रेखा सुनते ही अपना मुंह हाथों से ढक लेती है। गायिका दूर हटकर खिड़की के पास खड़ी हो जाती है।]

'वीतशोक,

एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। सम्राट् की कृपा-पात्र या तो मैं बनूंगी या तुम! तुम्हारा भला इसी में है कि तुम सुषिमा की तरह स्वयं पाटलिपुत्र के बाहर चले जाओ। नहीं तो मुझे घोर साधनों का उपयोग करना पड़ेगा।

तुम्हारी,

रेखा।'

अशोक—(सांस खींचकर) मैं ये अक्षर पहचानता हूं। (पत्र को मोड़ता है। सब लोग चुप और निश्चल हैं। रेखा भी शान्त है। कुछ देर बाद)—यह तुमने क्या किया, रेखा?···झूठ बोलकर मुझसे भीषण पाप करवाया। ओह···रेखा!

रेखा—सम्राट्, मैंने जो कुछ किया उसमें आपका हितचिन्तन था। आपकी उन्नति के लिए वीतशोक का हटना आवश्यक था, और··· ।

अशोक—रेखा, रेखा, तुमने मेरे साथ अन्याय किया। घोर अन्याय! उफ, मैं कैसे इस कलंक को धो सकूँगा?

रेखा—सम्राट् मैं अपनी सफाई नहीं दूँगी। मैंने जो कुछ किया, आगा-पीछा विचारकर किया था। आप समझते हैं कि मैंने आप के साथ अन्याय किया। मैं समझती हूँ कि मैंने भारतवर्ष के सम्राट् की उन्नति में कोई कसर नहीं उठा रखी। कौन ठीक था—समय इसकी परीक्षा करेगा। लेकिन एक बात का समय आज आ गया! मुझे जाना होगा आपके पास से।

अशोक—रेखा···तुम जाओगी? मुझे छोड़कर?···कहाँ जाओगी, रेखा!

रेखा—कहीं भी; किन्तु यहाँ अब न रह सकूँगी। गाँठ लगने पर भी टूटी हुई रस्सी एक नहीं हो सकती।···अब तक आप के ऊपर मेरा पूरा अधिकार था, पर आज···

अशोक—(आग्रह के साथ) लेकिन रेखा। मैं तो तुम्हें प्यार करता हूँ—अब भी···अब भी··· ।

रेखा—मुमकिन है। किन्तु जिस सन्देह का बीज आज पड़ा है, वह किसी भी दिन फूल-फल सकता है। और सम्राट्, यह भिक्षुणी ठीक कहती है—रेखा पैदा हुई है शासन करने के लिए—शक्ति के लिए। जहाँ मेरी शक्ति और अधिकार तनिक भी घटते हैं, वहाँ अधिक ठहरना मैं व्यर्थ समझती हूँ।

अशोक—तुम यह क्या कह रही हो रेखा? मेरा प्रेम, मेरी लगन, मेरी साधना—क्या सब को ठुकराकर···?

रेखा—सम्राट्, मेरी आत्मा में आँधी, भीषण आँधी चलती रहती है। ऐसी जबरदस्त आँधी, जिसके आगे प्रेम के कोमल किंशुक ठहर नहीं सकते। मैं इस तूफान के बल पर जीती हूँ।···एकबारगी मुझे धोखा हुआ। सच्चे खिलाड़ी की तरह मुझे अपनी पराजय माननी है। मैं मानूँगी···सम्राट् मुझे आज्ञा दीजिए।

अशोक—तुम्हें जाने की आज्ञा दूँ ?···यह क्या हो रहा है, रेखा ?···भिक्षुणी···भिक्षुणी··· !

गायिका—एक बात सुनो कुमारी रेखा, तुम्हारी यह आँधी रुककर शीतल समीर भी तो हो सकती है !

रेखा—यह असम्भव है। यही आँधी मेरा जीवन है। मैं जा रही हूँ सम्राट्, जहाँ भी मेरी आँधी के लिए नया मार्ग मिलेगा, नये जंगल, नये वृक्ष—

(प्रस्थान—तेजी से)

अशोक—रेखा···(उठते हुए)···रेखा···रेखा···। ओह भिक्षुणी ! यह तुमने क्या किया ! इससे तो अच्छा यही था कि तुम मुझे अपने झूठे स्वप्न में रहने देतीं।

गायिका—आपका स्वप्न आपको फिर मिल सकता है।

अशोक—वह मेरे प्रेम का स्वप्न था, भिक्षुणी।···तुम्हीं ने तो कहा था—मैं अकेला हूँ।···हाँ मैं अकेला हूँ। अब···मेरे प्यार का एकमात्र केन्द्र तुमने छीन लिया।···मैं भारतवर्ष का सम्राट्—कितना दयनीय हूँ।

गायिका—सम्राट्, उधर देखिए। आज आपके बन्धन टूट गये।

अशोक—प्रेम के बन्धन।

गायिका—नहीं, घृणा के बन्धन—लालसा के बन्धन।

अशोक—परन्तु मेरी लालसा अमर है।

गायिका—उसे अमर ही रहने दीजिए। आपकी लालसा अमर रहेगी तो आपका प्रेम भी अमर रहेगा। आज सारा संसार इन दोनों की भीख माँगता है।

अशोक—यह क्या कह रही हो, भिक्षुणी ?

गायिका—सम्राट्, आपके टूटे हुए स्वप्न के खंडहरों में आज मैं एक नया स्वप्न देख रही हूँ, नये जीवन का स्वप्न, नये उल्लास का, नई दुनिया का स्वप्न।

अशोक—परन्तु देवी ! मेरी दुनिया तो उजड़ चुकी है।

गायिका—वह तो संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण दुनिया थी। लेकिन एक और भी तो दुनिया है, सम्राट्, उन जगमगाते हुए तारों की, हँसती हुई नदियों

की दुनिया ।""यह पृथ्वी कितनी सुन्दर है—कितनी सुहावनी—सम्राट् ! ···लेकिन आज, आज इस मनोरम जगतीतल पर एक पिशाच घूम रहा है।

अशोक—पिशाच ?

गायिका—हाँ । युद्ध का पिशाच, नरहत्या का पिशाच।···सम्राट्, इस सुन्दर संसार में आज अकेला मनुष्य असुन्दर है, हत्यारा है, अभागा है।

अशोक—ओह भिक्षुणी इतनी जिम्मेदारी मैं नहीं सह सकूँगा ।

गायिका—सम्राट्, इन रक्त की नदियों के पीछे, इस हाहाकार और अत्याचार के उस पार, मैं एक नई दुनिया का स्वप्न देखती हूँ—कलिंग की उजड़ी हुई धरती में एक नई सृष्टि ।···आप भी देखिए सम्राट्, उस ओर चिताओं के परे आहों के ऊपर—देखिये न ।

अशोक—लेकिन, देवि ! मेरी लालसा, मेरी अतृप्त आकांक्षा !! मैं न देख सकूँगा····नहीं···नहीं !

गायिका—क्यों नहीं सम्राट् ? आपकी लालसा, आपके अरमान, आपकी शक्ति, आपका प्यार—सब आज से उस अनोखे चित्र का निर्माण करेंगे।···फिर कोशिश कीजिए, क्या आप उस स्वप्न को नहीं देख पाते ।

अशोक—मैं कोशिश करूँगा, देवि !

गायिका—मैं तो देख रही हूँ, सम्राट्, उज्ज्वल प्रभात, भगवान बुद्ध की करुणामयी किरणों से आलोकित प्रभात !···मैं देख रही हूँ भारत-भूमि के कोने-कोने में उनके पावन सन्देश का प्रचार, आर्यावर्त के हर एक नगर में शिलालेख और स्तम्भ, और मैं देख रही हूँ सदियों बाद, संसार के हृदय-मन्दिर में अशोक की प्रतिमा···सच्चे धर्म के पुजारी की प्रतिमा···(रुककर) मुझे निराश करेंगे सम्राट् ?

अशोक—(विस्मित) देख रहा हूँ, देवि—मैं भी देख रहा हूँ, मेरी आत्मा धुल रही है, मेरा कलंक धुल रहा है। भिक्षुणी···भिक्षुणी ! कैसा उज्ज्वल प्रभात है यह !···

(निस्तब्धता)

गायिका—रात बीत रही है, सम्राट् । मुझे जाना है ।

अशोक—(सहसा) क्या कहा ?

गायिका—रात बीत रही है, मुझे जाना है ।

अशोक—लेकिन, लेकिन···तुमने मुझे नया मार्ग दिखाया—कैसे इस अहसान को चुकाऊँगा ?

गायिका—विश्व-सेवा के द्वारा—

अशोक—अपनी सेवा का भी मुझे अवसर दो, देवि !

गायिका—मेरी सेवा ? भिक्षुणी की क्या सेवा ?

अशोक—कुछ भी नहीं ?

गायिका—कुछ भी···(मानो याद आयी हो)···हाँ एक काम है।

अशोक—(आतुर होकर) कहो !

गायिका—आप मेरे लिए एक भाई ला दीजिये ! ला सकेंगे ?

अशोक—(विस्मित) भाई ?

गायिका—हाँ ! भाई।···मेरा भी एक भाई था, परन्तु कल वह आपके कलिंग-युद्ध में मारा गया।

अशोक—(मानो बिजली छू गयी हो) सच बताओ, तुम कौन हो ?

गायिका—थी।···कलिंग की राजकुमारी। अब एक भिक्षुणी हूँ।

अशोक—(गिर पड़ता है घुटनों पर अपने हाथों से मुँह ढकता हुआ) कलिंग की राजकुमारी···राजकुमारी।···(रुँधे गले से) ओह ! ···मैं तुम्हारे भाई का हत्यारा हूँ हत्यारा !!

गायिका—नहीं सम्राट् ! आप ही मेरे भाई हैं (रुँधे गले से अशोक के कन्धे पकड़ते हुए) उठो मेरे भाई ! उठो मेरे अशोक। (अशोक खड़ा होता है।)···मेरे भाई !

अशोक—मेरी···बहन !

गायिका—कहो, कहो, गाकर कहो, जोर से कहो—बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि !!

अशोक—बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि धर्मं शरणं गच्छामि !!!

(पर्दा गिरता है।)

रामवृक्ष बेनीपुरी

रामवृक्ष बेनीपुरी जी द्वितीय महायुद्ध के समय हिन्दी साहित्य क्षेत्र में आते हैं। द्वितीय महायुद्ध ने समस्त विश्व को अस्त-व्यस्त कर दिया था, समस्याएँ हर समय, हर व्यक्ति के सामने मुँह बाये खड़ी थीं। वह समय हमारी परतन्त्रता का अन्तिम चरण था। मानसिक दासता के चरण भी ढीले पड़ रहे थे। हममें चेतना आ रही थी। हम अपनी संस्कृति, समाज और अतीत के प्रति दिन-प्रतिदिन जागरूक हो रहे थे। ऐसी ही परिस्थिति में श्री बेनीपुरी जी ने लिखना प्रारम्भ किया था। स्वाभाविक ही था कि इन्हें अपनी कथावस्तु के लिए इतिहास, पुराण तथा समाज को देखना पड़ा।

इससे पहले इतिहास की ओर को प्रसाद जी ने अपने नाटकों के लिए चुना था और इस युग में आकर श्री बेनीपुरी अपने नाटकों के लिए पुनः उसी स्थल पर पहुँचे हैं जहाँ प्रसाद जी थे। इसी कारण इनके कथानकों का सम्बन्ध भारत की प्राचीन, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं से है। प्रसाद जी की भाँति ही श्री बेनीपुरी ने भी अपने लिए बौद्धकालीन कथानक चुना है। साथ ही बेनीपुरी जी समाज के प्रति भी सतर्क हैं और इनकी एकांकियों में समाज का सजग चित्रण भी हुआ है।

आपने अपने एकांकी नाटकों में जीवन को समझने का प्रयास किया है और अनुभवगत सत्य के आधार पर उसे समाज के सामने रखना चाहा है जिसके माध्यम से सामाजिक विभीषिका के प्रति विद्रोह प्रतिपादित किया गया है। यथार्थवादी जीवन बेनीपुरी जी को अपनी ओर पूर्णतः खींच नहीं पाया है जिसके परिणामस्वरूप ऐतिहासिक एकांकियों में आदर्शवादी मान्यताओं को प्रश्रय मिला है।

पात्रों के चयन के साथ ही, घटनाओं, भावनाओं तथा उनकी

प्रतिपादन-प्रणाली एवं व्याख्या की मौलिकता श्री बेनीपुरी जी की अपनी देन कही जायगी। उनका दृष्टिकोण पूर्णतः नवीन है पर नाट्य-शास्त्रीय-मान्य परम्पराओं की उपेक्षा यथासम्भव बेनीपुरी जी द्वारा नहीं हुई है। इसके साथ ही पात्रों के मनोभावों के चित्रण में उनकी मौलिकता स्पष्ट हो गई है।

रंगमंच की व्यवस्था और उसकी आवश्यकता की ओर बेनीपुरी जी ने सर्वदा ध्यान दिया है। एक-सूत्रात्मकता इनके एकांकी की विशेषता है जिससे लेखक की रंगमंच के स्वरूप और सूचनाओं की ओर सतर्कता का संकेत मिलता है।

बेनीपुरी जी का भाषा पर अधिकार है। सरल से सरल शब्दों द्वारा बड़ी से बड़ी बात कहना इनकी विशेषता है। मनोदशा के अनुकूल विभिन्न शब्दों का चयन, शब्द के प्रयोग की सार्थकता के प्रति लेखक की सतर्कता का संकेत करता है। हिन्दी-उर्दू जो भी शब्द समय और परिस्थिति के अनुसार ठीक उतरता रहा है, उसका प्रयोग करने में बेनीपुरी जी को कोई हिचक नहीं हुई है, जिससे भाषा सरल और सजीव हो उठी है। उनका ध्यान भाषा की बोधगम्यता पर सदा बना रहा है। आम-फहम भाषा और चलते-फिरते मुहाविरों के प्रयोग पर उनका ध्यान सदैव रहा है।

कृतियाँ—अमरज्योति, नया समाज, नेत्रदान, संघमित्रा, सिंह विजय, सीता की माँ आदि।

राम-राज्य

(प्रवक्ता)

आज से ठीक सौ वर्ष बाद। याद रखिए, आज से ठीक सौ वर्ष बाद अर्थात् बीस सौ इकावन ईस्वी में! जरा अपनी कल्पना को तीव्र होने दीजिए—आज की पार्थिवता को पीछे ढकेल कर उसे उड़ान भरने दीजिए और चले चलिए २०५१ ईस्वी में!

प्रथम दृश्य

(हवाई जहाज के उड़ने और उतरने के शब्द)

स्वागताधिकारी—नमस्कार श्रीमतीजी, नमस्कार महोदय!

स्त्री—नमस्कार!

पुरुष—नमस्कार!

स्वागताधिकारी—आप कहाँ से पधार रहे हैं? आपकी शुभ यात्रा का उद्देश्य?

पुरुष—हम दक्षिण ध्रुव-प्रदेश से आ रहे हैं। वहाँ पर हम लोग एक उपनिवेश बसाने जा रहे हैं। उस ध्रुव-प्रदेश में हम जो एक नवीन समाज बनाने जा रहे हैं, उसकी आधार-शिला क्या हो, इसके लिए भिन्न-भिन्न देशों की सामाजिक पद्धति के अध्ययन के लिए, हमने भिन्न-भिन्न देशों में शिष्टमण्डल भेजे हैं। आपके देश में आने का सौभाग्य हम दोनों को मिला है।

स्वागताधिकारी—बड़ा ही शुभ उद्देश्य! हम आपका हृदय से स्वागत करते हैं। आपको ज्ञात ही होगा, हमने तो अपने यहाँ बापू के आदर्श के अनुसार रामराज्य की स्थापना कर ली है और, हमारी आशा है, एक दिन सारा संसार बापू के उस आदर्श को अपनायेगा।

स्त्री—हाँ, पूज्य गांधी जी के महान् देश को अपनी आँखों से देखने के लिए ही तो हम यहाँ भेजे गये हैं।

स्वागताधिकारी—हम आप लोगों को सारी सुविधाएँ देंगे। हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही अतिथि को देवता माना गया है—अतिथि देवो भव ! (पुकारता है) परिचालक !

परिचालक—महोदय !

स्वागताधिकारी—आप इन्हें जवाहर-अतिथिशाला में ले जायँ। (आगत व्यक्तियों से) हमने अपने विदेशी अतिथियों के लिए जो विश्रामागार बनाया है, उसके नाम के साथ अपने प्रथम प्रधानमन्त्री का नाम जोड़ रखा है—क्योंकि उन्होंने ही हमें सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व का पाठ सिखाया था।

स्त्री—हम उनके स्मारकों और स्मृति-चिन्हों को भी देखना चाहेंगे।

स्वागताधिकारी—आपको सारी चीजें देखने की सभी सुविधाएँ दी जायँगी। (पुरुष से) लेकिन आप अतिथि-शाला में जायँ, उसके पहले एक निवेदन।

पुरुष—आज्ञा दीजिए !

स्वागताधिकारी—हमारे यहाँ आज्ञा नहीं दी जाती, निवेदन किया जाता है। (मुस्कान) निवेदन यह है कि यदि आपके पास कोई अस्त्र-शस्त्र हो, तो उसे यहीं रख दीजिये।

पुरुष—(शंकित) ओहो ! तो आप मुझे निःशस्त्र करना चाहते हैं। यह तो किसी परदेशी पर अत्याचार है।

स्वागताधिकारी—(हँसता हुआ) ह-ह-ह- ! हर विदेशी ऐसा ही कहता है। महोदय, हम आपसे शस्त्र यहीं रख देने को इसलिए कहते हैं कि हमारे यहाँ शस्त्र रखना बर्बरता और पशुता का चिह्न समझा जाता है। आदमी ने शस्त्र का प्रयोग बनैले भैंसों, बाघ-सिंहों और विषधर नागों से सीखा ! पूज्य बापू ने हमें अहिंसा का पाठ सिखाया था, हमारे गले के नीचे भी पहले यह बात नहीं उतरती थी।

पुरुष—किन्तु, यदि हम पर प्रहार किया जाय, तो हम आत्मरक्षा कैसे करेंगे ?

स्वागताधिकारी—प्रहार ! हमारे देश में, बापू के इस राम-राज्य में, कोई किसी पर प्रहार नहीं करता ! अब हम पूर्ण सभ्य हो चले हैं—आदमी जितना बर्बर और असभ्य रहता है, उतना क्रूर और हिंसक होता है। ज्यों-ज्यों सभ्यता आती जाती है, त्यों-त्यों वह दयालु और अहिंसक होता जाता है। सभ्यता की पहिचान ही है अहिंसा।

स्त्री—आपकी बातें सत्य के बहुत निकट मालूम होती हैं।

स्वागताधिकारी—बापू कहा करते थे, अहिंसा का सन्देश सबसे पहले स्त्रियाँ और बच्चे समझते हैं। बापू के कथनानुसार पहला सत्याग्रही एक बच्चा था।

पुरुष—तो क्या आपके देश में सेना भी नहीं रखी जाती ? यहाँ इस हवाई अड्डे के अगल-बगल कहीं किसी सैनिक या प्रहरी को नहीं देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हो रहा था।

स्वागताधिकारी—नहीं ! हमारे देश में सेना नाम की कोई चीज नहीं है। जब हम स्वतन्त्र हुए थे, कुछ दिनों तक हमने सेना रखी। हम लड़ाइयों में भी शामिल हुए। किन्तु धीरे-धीरे उसकी व्यर्थता सिद्ध हो गई।

पुरुष—और, यदि कोई आपके देश पर चढ़ाई करे, तब ?

स्वागताधिकारी—कैसी बातें करते हैं आप ? क्या इस वैज्ञानिक युग में देशों पर चढ़ाई करने की जरूरत रह गई है, जबकि एक छोटी-सी पुड़िया सारे संसार को भस्म कर सकती है ? इन परमाणु अस्त्रों के बाद फिर सेना की क्या सार्थकता रह गई ? वह तो जहाँ की तहाँ खड़ी रह जायगी या ढेर हो जायगी।

पुरुष—आपके देश को भस्म नहीं करके आपको गुलाम तो बनाया जा सकता है !

स्वागताधिकारी—ह-ह-ह ! गुलाम बनाया जा सकता है ? एक बार हमें गुलाम बनाया गया था। उनका शस्त्र-बल भी असीम समझा जाता था। किन्तु बापू की अहिंसा के सामने उनकी कोई शक्ति काम

आई ? और उस समय तक अहिंसा पर हमें ऐसी आस्था भी नहीं थी। बस, देश में सिर्फ एक मुट्ठी लोग अहिंसक थे। उन्हीं को लेकर बापू ने उस समय के संसार के सबसे बड़े शक्तिशाली राष्ट्र को भगा दिया। आज तो हमारा बच्चा-बच्चा अहिंसा का मर्म समझ चुका है।

पुरुष—तो लीजिए, यह पिस्तौल ! (पिस्तौल निकालकर देता है)

स्वागताधिकारी—आह ! उफ...

स्त्री—अरे ! आप इस तरह विचलित क्यों हो गये ? महोदय, महोदय !

स्वागताधिकारी—आह ! यदि यह कलमुंही संसार में नहीं आई होती, तो बापू को उस दिन उस प्रकार मरना नहीं पड़ा होता। श्रीमती जी, पिस्तौल देखते ही हमारे हृदय में घृणा की जो भावना उमड़ पड़ती है, क्या आप लोग उसकी कल्पना भी कर सकेंगे ? उफ—

स्त्री—गांधी जी की हत्या! उसकी कल्पना तो हमें भी कंपा देती है, महाशय !

स्वागताधिकारी—और, उसके बाद भी आप लोग अस्त्र-शस्त्र की बातें करते हैं ? खैर, अभी अतिथिशाला जाइये। फिर कभी बातें होंगी। नमस्कार। परिचालक, रथ लाइये।

स्त्री—नमस्कार, नमस्कार !

पुरुष—नमस्कार, नमस्कार !

(मोटर के निकलने की आवाज)

द्वितीय दृश्य

(मोटर के ठहरने की आवाज)

प्रबन्धक—स्वागत श्रीमती जी, स्वागत महोदय !

स्त्री—नमस्कार !

पुरुष—नमस्कार !

प्रबन्धक—अभी हवाई अड्डे से हमें सूचित किया गया है कि आप दोनों पधार रहे हैं। आइये, आपकी सुख-सुविधा का सारा प्रबन्ध हमने

कर रखा है। अतिथिशाला का यह मानचित्र है (कागज खोलने का शब्द) इनमें ये आवास-कक्ष इस समय खाली हैं।

स्त्री—और, भोज्य-पदार्थों की सूची भी तो होगी।

प्रबन्धक—हाँ, यह लीजिये (कागज का शब्द)।

पुरुष—कक्ष और भोजन के लिए हमें क्या देना पड़ेगा? क्या आप हमें बता सकेंगे?

प्रबन्धक—हः हः हः—क्या देना पड़ेगा? क्या लेना पड़ेगा—विदेशियों के मुंह से यह सुनते हम तो हैरान हैं। महोदय, क्या आपको वायु के लिए कोई मूल्य देना पड़ता है? जल के लिए कोई मूल्य चुकाना पड़ता है? फिर भोजन के लिए मूल्य क्या? यह तो मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकता है! और, क्या अपनी छाया के लिए कोई वृक्ष मूल्य खोजता है, जो यह कक्ष आपसे कुछ माँगे?

स्त्री—तो यहाँ भोजन और आवास···

प्रबन्धक—हाँ, बापू के राम-राज्य में भोजन और आवास पाने का अधिकार सब नागरिकों को प्राप्त है। फिर, आप तो अतिथि हैं।

पुरुष—धन्य है आपका देश, धन्य है बापू का राम-राज्य! हम इसी राम-राज्य को देखने तो आये हैं। इसके लिए क्या प्रबन्ध रहेगा?

प्रबन्धक—आपकी सेवा में पथ-प्रदर्शक पहुँच जायेंगे। आप जहाँ जायें, निस्संकोच जा सकते हैं। आप क्या-क्या देखेंगे?

पुरुष—कुछ तो उतरते ही देख चुका। मैं विशेषतः उद्योग-धन्धे और खेतीबारी···

स्त्री—और, मैं बच्चों की शिक्षा और पारिवारिक जीवन!

प्रबन्धक—अच्छा चुनाव! पुरुषों के हिस्से उद्योग-धन्धे, खेतीबारी; स्त्रियों के जिम्मे पारिवारिक जीवन; भावी नागरिकों की शिक्षा-दीक्षा! बापू के राम-राज्य में भी यही व्यवस्था है और यही व्यवस्था उचित भी है। क्यों?

(स्त्री और पुरुष हँस पड़ते हैं)

तृतीय दृश्य

(दूर से सामूहिक गीत और वाद्य की झंकार)

पुरुष—हमें आप कहाँ ले आये ? यहाँ क्या कोई संगीतशाला है ?

स्त्री—अहा, कितनी मधुर झंकार।

पथप्रदर्शक—संगीतशाला नहीं, यह तो श्रमशाला है, जिसे पहले कारखाना कहा जाता था। पहले हम कारबार पर जोर देते थे, अब श्रम को ही महत्व देते हैं।

पुरुष—कारखाने में संगीत ?

पथप्रदर्शक—श्रम और संगीत में प्रारम्भ से ही अविच्छेद्य सम्बन्ध रहा है न। संगीत की उत्पत्ति ही श्रम से हुई। हमारी स्त्रियाँ प्रारम्भ से ही चक्की पीसते समय, धान कूटते समय, गाती रही हैं। हमारे मछुए नाव खेते समय, हमारे शिल्पी बड़ी-बड़ी शहतीर उठाते समय भी गाते रहे हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों हम तथाकथित सभ्य होते गए, श्रम से संगीत को अलग करते गये। फल यह हुआ कि आज मेहनत एक खटंत-क्रिया हो चली है—ऊबाने वाली, थकाने वाली, अकाल वृद्ध बनाने वाली ! अब फिर से हमने श्रम को संगीत के साथ नत्थी करके काम को खेल बना दिया है।

पुरुष—पहले हमें कार्यालय में ले चलिये, वहाँ मैनेजर से कुछ बातें करके तब भीतर चलेंगे।

पथ-प्रदर्शक—मैनेजर ! अब हमारी श्रम-शालाओं में किसी मैनेजर की आवश्यकता नहीं रह गई है। प्रारम्भ में हमने प्रबन्धक रखा था। क्योंकि उस समय तक हममें पुरानी आदतें थीं; जो हमें कामचोर बनाती थीं ! किन्तु, धीरे-धीरे वह आदत दूर हो गई। अब तो लोग स्वयं श्रम-शाला में उसी प्रकार आ जाया करते हैं; जैसे पहले सिनेमाघरों में खुशी-खुशी जाते थे।

पुरुष—तो वेतन आदि का निर्णय कैसे करते हैं आप लोग ?

पथ-प्रदर्शक—वेतन ? ह-ह-ह- ! वेतन कौन दे और किसको दे। समाज की श्रमशाला है; समाज उसके फलों का उपभोक्ता है। अपनी

शक्ति के अनुसार सभी श्रम करते हैं और अपनी आवश्यकता के अनुसार सब उपयोग करते हैं।

स्त्री—किन्तु, कितने ही देशों में तो यह प्रयोग असफल हुआ।

पथ-प्रदर्शक—क्योंकि उन लोगों ने दबाव और जोर से काम लेना चाहा। बापू की कर्मविधि तो अन्तःप्रेरणा के जगाने पर निर्भर होती है। हमने उनकी विधि अपनाई, हम सफल हुए। हाँ, एक बात और—

स्त्री—क्या ?

पथ-प्रदर्शक—बापू बड़े-बड़े कारखानों के विरुद्ध रहे हैं। बड़े-बड़े कारखानों में मशीन ऊपर रहती है, आदमी उसके नीचे कुचलता रहता है। इससे मनुष्यता विकास नहीं पाती। फलतः मनुष्य और मशीन में द्वन्द्व रहता है, उत्पादन में त्रुटि होती है। फिर एक बड़े कारखाने के बन्द होने से देश भर में हाहाकार मच जाता है। अतः हमने छोटी-छोटी श्रमशालाएँ ही बनाई हैं—जहाँ हर आदमी हर आदमी को पहचान सके, अपना सके, अपना भाई बना सके। और, यदि एकाध श्रमशाला में उत्पादन कम भी हुआ; तो देशव्यापी कुप्रभाव नहीं पड़ सके।

(भोंपू की आवाज)

स्त्री—अरे, क्या कारखाना बन्द होने जा रहा है ? आह, हम इस अलौकिक प्रयोग को देख न सके।

पुरुष—हाँ, इस विचित्र प्रयोग को हम आँखों देखना चाहते थे, महाशय !

पथप्रदर्शक—भोंपू तो बज गया; किन्तु जल्द निकलता कौन है ? काम को तो हमने खेल बना दिया है। बच्चे क्या खेल के मैदान को जल्द छोड़ते हैं ? तीन बार ऐसा भोंपू बजेगा, तब यही श्रमशाला खाली होगी। (संगीत का स्वर तेज होता है) सुनिये, भोंपू बजते ही संगीत कितना ऊँचा हो गया—चलते-चलाते थोड़ा और श्रम, थोड़ा और संगीत।

स्त्री—तो हम देखें न चलें।

पुरुष—हाँ-हाँ देखें न हाँ।

चतुर्थ दृश्य

(बच्चों का कलरव सुनाई पड़ता है)

एक बच्चा—देखो, देखो, मेरे गुलाब में यह कितना सुन्दर फूल खिल आया है। इसका रंग है गुलाब का और गंध रजनी-गंधा की। कैसा कमाल किया है मैंने।

दूसरा बच्चा—और इधर देखो, क्या ऐसा आलू तुमने कहीं देखा था? मैंने इसके लिए खास खाद बनाई थी। गुण टमाटर का स्वाद नासपाती का।

तीसरा बच्चा—अरे भाई, दोनों इधर आओ और देखो मेरी यह पुस्तक-धारिणी! इस पर पुस्तकें फेंक भी दो, तो वे आप-ही-आप पंक्तियों में सज जायेंगी। कैसी कारीगरी की है मैंने?

शिक्षक—बच्चो, अब इधर आ जाओ, थोड़ा सैद्धान्तिक ज्ञान भी तो ले लो!

सब बच्चे—आये गुरुदेव।

(स्त्री, पुरुष और पथ-प्रदर्शक का प्रवेश)

स्त्री—क्यों महोदय, यही आपकी पाठशाला है?

शिक्षक—हां, यह हमारी पाठशाला ही तो है।

पुरुष—यह पाठशाला है या उद्योगशाला!

शिक्षक—यों समझिये तो पाठशाला, उद्योगशाला और प्रयोगशाला—तीनों एक साथ! बापू ने शिक्षा का यह नवीन प्रयोग प्रारम्भ किया था, जिसे वह मौलिक शिक्षा-पद्धति कहते थे। बच्चों का सबसे पहला काम होता है, दूध पीना, फिर खेलना। भोजन के साथ खेल को जोड़ दीजिए और फिर इन दोनों का सम्बन्ध शिक्षा से कर दीजिए, बस शिक्षा का यही मूलसूत्र पकड़ कर हम आगे बढ़ते हैं। इसी से यह मौलिक शिक्षा कहलाती है।

स्त्री—आपके रामराज्य की सब चीजें ही विचित्र हैं। क्या मैं इन बच्चों से बातें कर सकती हूँ?

शिक्षक—क्यों नहीं? रामू! इनसे बातें तो कर बेटा!

स्त्री—आप किस वर्ग में पढ़ रहे हैं ?

बच्चा—वर्ग ? वर्ग क्या है ? बापू के समाज में वर्ग ?

स्त्री—(शिक्षक से) यह बच्चा क्या कह रहा है ? क्या यहाँ पाठशालाओं में वर्ग नहीं रखे जाते हैं ?

शिक्षक—नहीं श्रीमती जी, (बच्चे से) रामू, यह जानना चाहते हैं कि तुम क्या सीख रहे हो ?

बच्चा—जमीन और बीज के भेदों को समझ चुका हूँ; अब मौसम के भेद से जमीन और बीज के भेद के बारे में प्रयोग कर रहा हूँ। क्या ऐसा गेहूँ नहीं बनाया जा सकता जो धान के मौसम में···

स्त्री—रहने दो बच्चे, मैं समझ गई···

बच्चा—नहीं, नहीं, मैं और भी सीख चुका हूँ। मैं ऐसी कुर्सी बनाने में लगा हूँ जो बैठते ही मनचाही दिशा में पहुँचा दे।

स्त्री—रहने दीजिए, मैं समझ गई, समझ गई। धन्य हैं आपके शिक्षक जिन्होंने ऐसे छोटे-से बच्चों में इतना ज्ञान भर दिया है।

बच्चा—शिक्षक, शिक्षक किसे कहते हैं ?

स्त्री—तो उन्हें आप क्या कहते हैं ?

शिक्षक—श्रीमती जी, हमारे यहाँ शिक्षक नहीं होते ! शिक्षक वह है, जैसा आपने कहा है, जो बच्चों में ज्ञान भरे। बच्चों में ज्ञान भरने का पेशा हमारे यहाँ नहीं रह गया है। हमें बच्चों में जो ज्ञान निहित है, उसे उभारना भर है। इसलिए जो लोग उन्हें इस कार्य में सहायता पहुँचाते हैं, वे शिक्षक नहीं कहला कर शिक्षा-सहायक कहलाते हैं। शिक्षक शब्द हमने जानबूझ कर छोड़ दिया है। क्योंकि सहायक शब्द से बच्चे सदा यह अनुभव करते हैं कि उन्हें स्वयं शिक्षित होना है, हमारा काम सिर्फ सहायता देना है उन्हें।

(संगीत का स्वर)

बच्चा—यह नया पाठ प्रारम्भ हो रहा है, अब मैं जा सकता हूँ ?

स्त्री—शिक्षण में भी आपने संगीत को प्रमुखता दे रखी है !

शिक्षक—श्रम के साथ संगीत और संगीत के साथ शिक्षण—शिक्षण और श्रम को जोड़ने वाली कड़ी तो संगीत ही है न ? संगीत

को बन्द कर दीजिए, श्रम और शिक्षण दोनों नीरस, शुष्क और उकताने वाले, उबाने वाले बन गये।

स्त्री—आपके यहाँ सब कुछ विचित्र है !

पंचम दृश्य

(एक अनहद संगीत : वंशी का स्वर : कोयल की कूक)

पुरुष—आप हमें किस मायापुरी में लिए जा रहे हैं ?

स्त्री—हाँ, यह मायापुरी ही तो है, चारों ओर लहलहाते हुए खेत। कहीं फल-फूल; कहीं बालियाँ ! बीच-बीच में बगीचे—कहीं बौरों से लदे, कहीं फलों से लदे। हवा पराग से बोझीली। फिर यह अनहद संगीत ! अहा !

पथ-प्रदर्शक—ओहो, आप कवि भी हैं ! हाँ, हर स्त्री कुछ कवि होती है ! किन्तु यह मायापुरी नहीं, यह तो मायापुरी का पड़ोस है, मायापुरी तो देखिए, वहाँ है।

पुरुष—वह तो कोई नगर-सा है ? कौन सा नगर है ?

स्त्री—किन्तु आप तो हमें गाँव दिखलाने ले आये थे न ?

पथ-प्रदर्शक—वह गाँव ही तो है !

पुरुष—गाँव है ? जहाँ के मकान यहीं से यों चमक रहे हैं, शायद कोई नमूने का गाँव बसाया है आपने।

पथ-प्रदर्शक—नहीं, हमारे सारे गाँव ऐसे ही हैं। बहुत दिनों की बात है। हमारे बापू की एक शिष्या थीं—विलायत की। उन्होंने भारतीय गाँव पर लिखा था कि जब रास्ता पकड़ कर मैं चलती हूँ और दुर्गन्ध से नाक फटने लगती है, तो मैं समझती हूँ, मैं गाँव के निकट आ गई। काश, वह देवी आज होतीं ! खैर, वह न सही, आप तो हैं। कहिये, आपकी नाक तो नहीं फट रही ?

स्त्री—मेरे तो नाक, कान और आँख—सब तृप्त हुए जा रहे हैं, चलिए, हम जरा आपके गाँव को निकट से देखें।

पुरुष—क्या सचमुच ये गाँव हैं ! पंक्तियों में बने ये सुन्दर-सुन्दर मकान ! बीच-बीच में पतली, सुथरी पगडंडियाँ। हर घर के सामने रंग-बिरंगी फुलवारियाँ और, यह शायद बिजली भी···

पथ-प्रदर्शक—हाँ, हाँ बिजली ही तो है। बिजली खेतों को पटाती है, जोतती है, घरों को जगमग करती और मौके पर से सारी मनहूसियत को दूर रखती है! यह बिजली की कृपा है, जिसने हमारे शहरों और गाँवों के भेद-भाव को सदा के लिए दूर कर दिया है!

पुरुष—किन्तु गांधी जी तो ग्राम-उद्योगों के पक्षपाती थे न? फिर ये वैज्ञानिक साधन...

पथ-प्रदर्शक—ग्राम-उद्योग का पक्षपाती होने का अर्थ क्या वैज्ञानिक साधनों से असहयोग करना है? बापू ने रेल, मोटर, रेडियो, प्रेस सबका प्रयोग किया था? जहाँ विज्ञान मानवता को पीसता है, हम उसे दूर रखते हैं। विज्ञान को हमने विशाल उद्योगों के एकाधिकार से हटाकर ग्राम-उद्योगों में जोत दिया है, उसने हमें स्वावलम्बी बनने में प्रचुर सहायता की है। बापू का मूलमन्त्र था स्वावलम्बन। हर व्यक्ति स्वावलम्बी हो, हर कुटुम्ब स्वावलम्बी हो, हर गाँव स्वावलम्बी हो और हो सारा राष्ट्र स्वावलम्बी।

(चर्खे के चलने की घरं-घरं आवाज)

स्त्री—अरे, क्या आप लोगों के घरों में आज भी चर्खे चलाये जाते हैं?

पथ-प्रदर्शक—क्या चर्खे को हम कभी भूल सकते हैं? जिसने हमें स्वराज्य दिलाया, जिसको हमने अपने झंडे पर रखा, उसे भूल जाना तो अपने इतिहास को, अस्तित्व को भूल जाना है। फिर बापू कहा करते थे, चर्खा ग्रामीण अर्थशास्त्र की धुरी है। धुरी को छोड़ दें, तो गाड़ी चलेगी क्या?

पुरुष—किन्तु चर्खा तो पुरातन-पन्थिता का प्रतीक है।

पथ-प्रदर्शक—हमारे नये चर्खे को देखिए, तो कहिये! बापू ने अठारहवीं सदी के चर्खे को बीसवीं सदी के योग्य बनाया, हमने उसे इक्कीसवीं सदी के योग्य बना दिया है। हमारा एक चर्खा पूरे परिवार को वस्त्र-स्वावलम्बी बना देता है। हम बापू के सपूत हैं न?

(लड़कियों के हँसने की आवाज)

स्त्री—ओहो, इधर लड़कियाँ आ रही हैं। कितनी सुन्दर हैं?

पुरुष—तितलियों जैसी—

पथ-प्रदर्शक—हाँ, रूप में तितलियाँ, किन्तु काम में मधुमक्खियाँ। हमारी स्त्रियाँ युगों से घरेलू कामों पर एकाधिकार रखती आई हैं, अब तो वे कृषि आदि उद्योगों में भी हमारा हाथ बँटाती हैं!

पुरुष—तब तो आपके यहाँ भी स्त्री-पुरुष में संघर्ष होगा?

पथ-प्रदर्शक—जी नहीं। जहाँ अधिकार की बात होती है, वहाँ संघर्ष! यहाँ तो कर्तव्य की बात है। हमारे शास्त्रों ने स्त्री को पुरुष की अर्द्धांगिनी कहा है—सामाजिक और पारिवारिक कर्मों का आधा बोझ अपने ऊपर लेकर उन्होंने उसे सार्थक बना दिया है। हमारी नारियों का आदर्श माता कस्तूरबा हैं—इसे आप न भूलें।

स्त्री—पूज्य बा! वह तो संसार की नारियों के लिए सदा नमस्य रहेंगी।

पुरुष—हाँ, एक बात! आपके यहाँ कुछ लोग जो हरिजन कहलाते थे, गाँव में उनकी बस्ती किस तरफ है? जरा उधर तो चलिये।

पथ-प्रदर्शक—ह-ह-ह! आप सुदूर भूत की बात कर रहे हैं। बापू ने कहा था—हमें एक वर्गहीन-वर्णहीन समाज बनाना है! हमने वैसा ही समाज बना लिया है—हमारे यहाँ न कोई धनी है, न कोई गरीब, न कोई कुलीन है, न कोई अन्त्यज! सब एक साथ रहें, सब एक साथ उपभोग करें और एक साथ राष्ट्र को बलवान बनायें—इस प्राचीन आदर्श को हमने नये साँचे में ढाल दिया है। देखते नहीं, गाँव के सारे घर एक से हैं। गाँव के घर ही एक-से नहीं हैं, हमारे हृदय भी एक हो चुके हैं।

(दूर से मृदङ्ग-झांझ आदि का स्वर)

स्त्री—वह? कोई उत्सव हो रहा है क्या?

पथ-प्रदर्शक—हमारा हर दिन उत्सव का दिन है। उत्सव से हम दिन का प्रारम्भ करते हैं और उत्सव से ही दिन की समाप्ति होती है। सन्ध्या होने को आई न? अब 'जन-गृह' में गाँव के स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बच्चे, सब-के-सब एकत्र होंगे। वहाँ नृत्य होगा, गान होगा, नाटक होंगे, प्रहसन होंगे। रेडियो लगा है, देश-देश की वार्त्ताएँ सुनी जायेंगी—फिर लोग खुशी-खुशी अपने घर जायेंगे और सुख की नींद सोयेंगे।

पुरुष—कितना सुखी समाज बना रखा आप लोगों ने !

स्त्री—सचमुच, मायापुरी बनाई है आपने। मेरी तो इच्छा होती है, यहीं बस जाऊँ !

पथ-प्रदर्शक—आप दोनों अपनी बात कह गये—पुरुष प्रतिस्पर्द्धी होता है, नारी आत्म-समर्पिणी ! किन्तु हम कहेंगे, आप जाइये और अपने देश में बापू के इस राम-राज्य का सन्देश दीजिए।

पुरुष—अब हम वापस जाना चाहते हैं, क्या अपने राष्ट्रपति के दर्शन हमें करा सकेंगे आप ?

पथ-प्रदर्शक—राष्ट्रपति ? राष्ट्रपति हमारे देश में अब नहीं होते। पति शब्द से प्रभुत्व सूचित होता है। हमने उसके बदले, प्रमुख राष्ट्र-सेवक शब्द रखा है। आप उनसे अवश्य मिलें। मिलकर आप प्रसन्न हो जायेंगे।

स्त्री—कौन-से वह सौभाग्यशाली सज्जन हैं, जिन्हें ऐसे राष्ट्र का प्रमुख सेवक होने का गौरव प्राप्त है ?

पथ-प्रदर्शक—जिस दिन बापू का अलौकिक बलिदान हुआ, उसके ठीक एक दिन पहले उन्होंने प्रवचन किया था कि मैं प्रसन्न तब होऊँगा, जब गाँव में हल जोतने वाला व्यक्ति राष्ट्र के राज्य-सिंहासन पर बैठे। एक वैसे ही सज्जन हमारे प्रमुख राष्ट्रसेवक हैं—और उन्होंने बापू की छत्र-छाया में काम भी किया था।

स्त्री—अरे, तो उनकी क्या उम्र है ?

पथ-प्रदर्शक—यही, १२० वर्ष के लगभग। बापू की इच्छा थी, वह १२० साल जीयें। वह तो चल बसे, किन्तु उम्र की वह धरोहर हमें दे गये हैं। हमारे प्रमुख राष्ट्रसेवक उनकी इच्छा की पूर्ति कर सके हैं, यह हमारे लिए सौभाग्य की ही बात है।

पुरुष—एक हल जोतने वाला व्यक्ति इस सर्वोच्च पद पर कैसे पहुँचेगा ? क्या आपके यहाँ उम्मीदवारों में प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती ?

पथ-प्रदर्शक—हमारे यहाँ चुनाव में कोई उम्मीदवार नहीं होता। बापू क्या कभी किसी पद के उम्मीदवार हुए ? तो भी वह हमारे सब कुछ थे। हमने वही पद्धति ली है। बापू की जयन्ती-दिवस पर हम

उत्सव मना कर लौटते हैं, तो इस पद के लिए किसी एक के लिए अपना मत डाल कर। मत पाने के लिए कोई प्रचार करना तो हमारे यहाँ शिष्टता के प्रतिकूल समझा जाता है और हमारे राष्ट्र में कोई अशिष्ट नहीं, यह हमारा दावा है।

स्त्री—सब कुछ विचित्र है आपके देश में ! चलिए, हम उनके दर्शन कर लें।

षष्ठम दृश्य

(मोटर के भोंपू का शब्द)

स्त्री—नमस्कार !

पुरुष—नमस्कार !

राष्ट्रसेवक—नमस्कार देवी जी, नमस्कार महोदय ! आइये पधारिये।...तो देख लिया हमारे बापू के राम-राज्य को !

पुरुष—देख लिया, प्रसन्न हुआ !

स्त्री—प्रसन्न ही क्यों, हम तो विस्मय-विमुग्ध हैं। और जो कसर थी, उसे आपके दर्शन ने पूरा कर दिया। आप गांधीजी के साथी...

राष्ट्रसेवक—साथी नहीं, साथी नहीं, उनका अनुयायी। मैं तो तब बारह-तेरह वर्ष का था। हाँ, ये आँखें धन्य हैं, जिन्होंने उनकी सूरत देखी थी, और यह शरीर धन्य है कि उन्हें अर्पित था। देखिए, यह...

स्त्री—ओ हो !

पुरुष—अरे !

राष्ट्रसेवक—जब बापू ने १९४२ में क्रान्ति का नारा दिया, मैं बच्चा ही था। एक थाने पर चढ़ाई हुई, उस पर राष्ट्रीय झंडा फहराने के लिए मैं बन्दर की तरह उछल कर जा चढ़ा। नीचे से गोली दागी गई, उसी का यह चिन्ह !

स्त्री—उफ, कैसी यह बर्बरता।

पुरुष—शासन का मोह हमसे क्या नहीं करा सकता है ?

राष्ट्रसेवक—इसीलिए बापू कहा करते थे कि सबसे अच्छा शासन वह है जिसमें कम-से-कम शासन किया जाय। आपने हमारे राष्ट्र में कहीं ऐसा देखा है, जहाँ शासन का कोई दबाव आपको अनुभव करना

पड़ा हो। धीरे-धीरे हम शासन को सिमट रहे हैं और शायद एकमात्र चिह्न यह पद रह गया है, जिसे देकर मुझे सम्मानित गया है।

स्त्री—सेना नहीं, शासन नहीं ! एक विचित्र समाज बना आप लोगों ने।

राष्ट्रसेवक—किन्तु, यहाँ तक पहुँचने में हमें किन-किन कठि का सामना करना पड़ा है, काश, उसे आप लोग जान पाते। उ ने राम-राज्य कहा, लोगों ने खिल्लियाँ उड़ाई—उन्हें खब्ती कहा बताया। हमें उनकी बात कुछ इतनी पागल की मालूम हुई, बर्दाश्त नहीं कर सके इन्हें···उफ, उनकी हत्या···

पुरुष—हाँ, वह तो संसार-भर के लिए एक दुःखद घटना हु गांधीजी ऐसे सन्त का गोली से मारा जाना। लेकिन, क्षमा तो पूछूँ।

राष्ट्रसेवक—क्षमा ! आप क्या कह रहे हैं यह ? आप पूछ सकते हैं।

पुरुष—क्या धर्म का भेद-भाव···

राष्ट्रसेवक—बस, बस, बस, रहने दीजिए। धर्म का भेद बापू के रक्त से ही धुल गया। हाँ, जो उसका धब्बा-सा बच गया भी हमने दूर कर दिया—यद्यपि उसमें प्रयत्न काफी करने प हमारे यहाँ विश्वासों की विभिन्नता, विचारों की विभिन्नता स्वाभाविक मानी जाती है, जैसे मुखाकृति की विभिन्नता। कि चेहरे एक हैं ? फिर हृदय और मस्तिष्क कैसे एक-से होंगे। कि अलग चेहरे रखकर भी हम सभी मानव हैं, कुटुम्बी हैं, बाप हैं, पति हैं, पत्नी हैं, बहिन हैं, बेटी हैं, एक-साथ रहते हैं, आन हैं। उसी तरह अलग विश्वास और विचार रखकर भी हम प और आनन्द से रह सकते हैं, रहते हैं।

पुरुष—धन्य हैं आप और धन्य है आपका देश जहाँ समाज प्रस्फुटित हुआ है, जो संसार के लिए अनुकरणीय है।

विष्णु प्रभाकर

आदर्श और यथार्थ को अनन्योन्याश्रित मानने वाले श्री विष्णु प्रभाकर का स्थान दूसरी पीढ़ी के एकांकीकारों में अग्रगण्य है। आप मूलतः मानवतावादी एकांकीकार हैं जो अपनी कला, अभिव्यक्ति और कलम—तीनों के प्रति ईमानदार हैं। अपनी मान्यता है कि मानव न तो यथार्थ के बिना खड़ा हो सकता है और न आदर्श के बिना जीवित रह सकता है। इसलिए संयमित जीवन के लिए दोनों की आवश्यकता है।

एकांकीकार प्रभाकर ने जीवन को देखा है, समझा है, उसके अन्तर में पहुँचने का प्रयत्न किया है। परिणाम यह हुआ है कि समाज की कथावस्तु के साथ-साथ जिन पात्रों का निर्माण उन्होंने किया है, उनमें वर्ग के प्रतिनिधित्व की पूर्ण क्षमता है। मानव जीवन के हर पहलू पर उनकी दृष्टि गई है, व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व को बड़े ध्यान से उन्होंने सुना है। श्री विष्णुजी के एकांकी उनकी मनोवैज्ञानिक पहुँच की देन कहे जा सकते हैं।

उन्होंने जिस समाज को अपने लिए आधार बनाया है वह है 'मध्यवर्गीय समाज'। अतः उनके एकांकी नाटकों में इस वर्ग के विभिन्न रूप देखने को मिल जाते हैं। जहाँ विभिन्न रुचि के व्यक्ति मिलेंगे, वहाँ विभिन्न संस्कारों और परिस्थितियों का प्रतिपादन भी मिलेगा। विष्णु जी का प्रयत्न रहा है कि उलझनों और संघर्षों को समस्या मात्र न रहने दिया जाय वरन् उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न भी होना चाहिए।

इनके समस्त एकांकियों को हम पाँच वर्गों में बाँट सकते हैं। (१) सामाजिक एकांकी, (२) मनोवैज्ञानिक एकांकी, (३) राजनीतिक एकांकी, (४) हास्य और व्यंग प्रधान एकांकी, तथा (५) पौराणिक-ऐतिहासिक एकांकी। सभी एकांकियों के विषय में यह कहा जा सकता है कि विष्णु जी की भीतरी ममता ने उनमें आकार पा लिया है।

जज का फैसला

[प्रारम्भिक संगीत के बाद रेल के तेजी से आने का स्वर, कुछ क्षण बाद यह स्वर धीमा पड़ता है, फिर धीरे-धीरे बिल्कुल रुक जाता है। सीटी की आवाज उठती है, फिर यात्रियों के स्वर उठते हैं—"क्या हो गया ?", "गाड़ी क्यों रुक गयी ?", "जंगल में गाड़ी कैसे खड़ी हो गयी ?" फिर खिड़कियां खुलती हैं और एक सेकण्ड क्लास के डिब्बे में स्वर तेज होते हैं।]

इंजिनियर—यह तो गाड़ी रुक गई ! क्या बात है ? (खिड़की खोलता है।)

प्रोफेसर—हां, गाड़ी यहां कहां रुक गई ? (जैसे कोई दूर देखता हो) कोई स्टेशन तो नहीं दिखायी देता।

जज—स्टेशन नहीं है, तो और क्या है ?

इंजिनियर—जंगल ! एकदम जंगल है ! गाड़ी पहाड़ियों में से गुजर रही है। आगे सतपुड़ा का ढलान है।

प्रोफेसर—तब तो स्टेशन अभी दूर है।

जज—प्रोफेसर, आप नौजवान हैं। जरा देखिए तो, क्या बात है ? कहीं कोई एक्सीडेंण्ट तो नहीं हो गया !

इंजिनियर—नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं दिखायी देती। हां, वक्त बड़ा खराब है। अंधेरा गहरा होता जा रहा है। पहाड़ियां भूत-सी जान पड़ती हैं।

जज—(हँसकर) और इन भूत-सी पहाड़ियों में जिन्दा भूत भी रहते हैं।

प्रोफेसर—क्या मतलब ? क्या आप कहना चाहते हैं कि...

जज—नहीं-नहीं, मैं ऐसा कुछ नहीं कहना चाहता। एतबार का

जमाना अब बीत गया। यह शान्ति का युग है। इंजन में कुछ गड़बड़ हो गई होगी।

प्रोफेसर—मैं अभी देखता हूँ। (कूदता है) लोग इंजन की ओर जा रहे हैं। (दूर जाता स्वर) अभी पता लग जाता है।

इंजिनियर—आप ठीक कहते हैं। ट्रेन रोक लेने वाले डाकुओं का अब कोई डर नहीं है। हां, कभी-कभी पहले या दूसरे दर्जे के डिब्बों में कोई दुर्घटना हो जाती है, पर उसके लिए गाड़ी रोकने की बेवकूफी कौन करेगा? (हँसता है)

जज—(हँसकर) इंजिनियर साहब! आप भी कहाँ पहुँच गये! अरे, कोई भैंस या ऐसा ही कोई बड़ा जानवर लाइन पर आ गया होगा।

इंजिनियर—और शायद कट गया होगा। हाँ, बस यही बात है। लेकिन उसको हटाने में काफी देर लग सकती है। देखूँ, प्रोफेसर कहाँ पहुँच गये। (विराम) दिखायी नहीं देते। लोग सब लौट रहे हैं। सब के मुँह लटके हुए हैं। क्या बात है?

जज—किसी से पूछो न! अपना डिब्बा भी सबसे पीछे पड़ गया।

इंजिनियर—लो, वे प्रोफेसर आ गये। (पुकारकर) हल्लो प्रोफेसर? क्या खबर है?

प्रोफेसर—(दूर से) खबर तो कुछ अच्छी नहीं है! (पास आकर) आगे कहीं स्टेशन से इस ओर मालगाड़ी का डीरेलमेण्ट हो गया है। उससे लाइन में कुछ खराबी हो गई है। ठीक करने में देर लगेगी।

इंजिनियर—देर का मतलब कि कुछ घण्टे लगेंगे।

प्रोफेसर—लग सकते हैं। कुछ भरोसा थोड़े ही है। मेरे साथ पहले भी एक-दो बार ऐसा हो चुका है। अभी पिछले वर्ष की बात है, बम्बई जाते हुए कोटा जङ्क्शन पर छः घण्टे पड़े रहना पड़ा था।

जज—छः घण्टे! तब तो सबेरा हो जायगा।

इंजिनियर—अब कुछ भी हो। जो होगा, वह भुगतना पड़ेगा। खुशी इस बात की है कि कोई दुर्घटना नहीं हुई। शायद आपको याद होगा, एक बार इसी स्थान पर भयङ्कर रेल दुर्घटना हो गई थी।

जज—मुझे मालूम है। उसमें लगभग सौ व्यक्तियों को जान से हाथ धोना पड़ा था।

इंजिनियर—बेशक ! मैंने यह सब अपनी आँखों से देखा था।

प्रोफेसर—क्या मतलब ? क्या आप भी उस ट्रेन से सफर कर रहे थे ?

इंजिनियर—जी हाँ !

जज—तब तो आप खुशकिस्मत हैं। वह तो समूची ट्रेन खड्डे में जा गिरी थी। आप कैसे बचे ?

इंजिनियर—कैसे बचा ? यह तो मैं भी नहीं जानता। बस बच गया, इतना मालूम है।

प्रोफेसर—इतना तो हमको भी मालूम है। आप हमारे सामने बैठे हैं।

इंजिनियर—(हँसकर) आप कहें, तो इसका एक और प्रमाण दे सकता हूँ।

प्रोफेसर—वह क्या ?

इंजिनियर—वह यह कि मैंने बीमा कम्पनी से रुपये वसूल किये थे।

प्रोफेसर—वाई खूब ! आपने एक ओर तो मौत को झुठलाया, दूसरी ओर रुपया भी वसूल किया। कैसी अद्भुत बात है !

जज—यह क्या अद्भुत बात है ! अद्भुत बात मैं जानता हूँ !

प्रोफेसर—आप जानते हैं ! यानी आप भी उस दुर्घटना के गवाह हैं ?

जज—जी नहीं, मैं किसी दुर्घटना का गवाह नहीं हूँ, पर एक भयङ्कर रेल-दुर्घटना से सम्बन्ध रखने वाले एक अजीबो-गरीब मामले का फैसला मैंने अवश्य किया है।

प्रोफेसर—आपका मतलब शायद रेल को गिराने या लूटने वाले किसी षड्यन्त्र से है !

जज—नहीं दोस्त ! मैं किसी चोर, डाकू या षड्यन्त्र की बात नहीं कर रहा। यह साधारण इंसान की बात है। पर बड़ी अनोखी बात है।

इंजिनियर—अनोखी बात है, तो सुनाइए। मैं भी सुनूँगा।

जज—सुनाने के लिए ही तो मैंने बात शुरू की है। (विराम) जिस दुर्घटना का मैंने अभी जिक्र किया है, उसमें तबाह होने वाली ट्रेन में जो यात्री सफर कर रहे थे, उनमें एक महिला भी थी। उसकी शादी हुए कुछ दिन भी नहीं बीते थे, वह अपने पति के साथ दक्षिण की यात्रा पर निकली थी। वह निहायत खूबसूरत थी। उसके लम्बे-काले, नील-नयन, तिल के फूल से नासा-पुट, गुलाब-सा खिला हुआ मुखड़ा, किंचित् भूरे-सघन-केश देखकर भूख मिटती थी। उनके डिब्बे में केवल दो यात्री और थे। इसलिए उनकी मोहब्बत की दुनिया में चैन ही चैन था। उन्हें नही मालूम था कि गाड़ी तेजी से उड़ी जा रही है, कि दिन का देवता थकान महसूस करने लगा है। प्रेम की दुनिया में न जरा है, न मरण और न थकान। पर कुदरत का कानून मोहब्बत की दुनिया से भी ऊपर है। धीरे-धीरे रात की देवी ने चारों ओर अपनी मोहिनी डालनी शुरू की। डिब्बे के शेष दोनों यात्री ऊँघने लगे, पर प्यार की दुनिया में खोये हुए उन दो प्रेमियों पर रात की वह मोहिनी कुछ प्रभाव न डाल सकी। वे बराबर प्रेमालाप में मशगूल रहे। पत्नी ने कई बार कहा—

(फेड-इन, पति-पत्नी, चलती ट्रेन, सीटी का स्वर, प्रेमालाप)

विमला—अब तो आप सो जाइये। बहुत रात बीत गई है।

प्रकाश—रात तो सदा आती रहती है, परन्तु प्रेम के ये क्षण बार-बार नही आते, विमला! आज मुझ पर नींद की परियों का जादू नहीं चलेगा।

विमला—(हँसकर) मुझे नही मालूम था कि आप कवि भी हैं।

प्रकाश—(हँसकर) था तो नही, पर अब हो गया हूँ। तुम्हारा परस ही ऐसा होता है। देखो न, तुम्हारा संग पाकर लोहे की ट्रेन भी कैसा गाना गा रही है? कितनी समरसता है उसके ताल-लय और स्वर में?

विमला—जैसी पक्के गाने मे होती है (खिलखिलाती है) या फिर जैसी शिव के ताण्डव में होती है।

प्रकाश—नहीं प्रिये! इसमें वही समरसता है, जो पार्वती के लास्य मे होती है।

विमला—(और भी तेज हँसी) पार्वती का लास्य ? प्रियतम, आप सपनों की दुनिया में हैं !

प्रकाश—सपनों की दुनिया ? हाँ यह सपना ही तो है ! तुम स्वयं एक सपना हो ! यह रात भी एक सपना है—एक मधुर मादक संगीत से पूर्ण सपना ! रात का संगीत हमेशा सपने का संगीत होता है । बाहर झांको ! देखो ! समुद्र की लहरों में चंचलता भर देने वाला यह चांद अपनी मौन मुसकान से धरती पर अमृत उँडेल रहा है । उसमें स्नान कर प्रकृति मस्त हो उठी है । पहाड़ियां एकटक आसमान के रूप को निहार रही हैं ।

विमला—(प्रभावित होकर) वैसे ही, जैसे मैं अपने प्रियतम को निहारा करती हूँ ।

प्रकाश—(शरारत) कौन है तुम्हारा प्रियतम, विमला !

विमला—(शरारत) कोई है, तुम्हें क्यों बताऊँ ?

प्रकाश—क्योंकि मैं ही वह प्रियतम हूँ ।

विमला—ऊँ हूँ; तुम तो प्रकाश हो !

प्रकाश—मेरी आंखों में झांको और बताओ !

विमला—वहाँ तो मैं हूँ ।

प्रकाश—मेरे हृदय में देखो ।

विमला—उसकी प्रत्येक धड़कन में मेरा स्वर है, प्रकाश !

प्रकाश—तो फिर अपना हृदय टटोलो, विमल !

विमला—(हँसकर) वहां रहता है मेरा प्रियतम !

प्रकाश—(हँसकर) तो फिर मुझे अपनी आंखों में झांकने दो !

विमला—(जोर से हँसकर) हटो, हटो, अब सो जाओ ! मुझे भी सोने दो ! सपनों में अपने प्रियतम से बातें करूँगी ।

प्रकाश—अब जो कुछ है, वह क्या सपने से कुछ भिन्न है, विमल ?

विमला—अब जो कुछ है, वह सब सत्य है, प्रकाश !

प्रकाश—तो फिर मुझे सपने नहीं चाहिए । मैं सत्य चाहता हूँ । मैं तुम्हें चाहता हूँ ।

विमला—ओह, मेरे प्रियतम ! मेरे प्रकाश !

की याद दिला दी। मेरा दिल कैसा धड़क रहा है! मुझे लगता है जैसे दुर्घटना अभी घट रही है। लगभग इसी समय और इसी स्थान पर तो वह दुर्घटना घटी थी।

प्रोफेसर—सचमुच, यह निर्जन, यह रात और यह भयंकर दुर्घटना! कल्पना-मात्र से रोंगटे खड़े होते हैं, और वे दोनों प्रेमी! उनके नये जीवन की उमंगें खिलने से पूर्व ही मुरझा गईं। सपना आने से पहले ही नींद खुल गई! दोनों अकाल में ही मर गये!

जज—नहीं, मेरे दोस्त! वे दोनों मरे नहीं!

प्रोफेसर—दोनों नहीं मरे, तो क्या एक मरा?

जज—एक भी नहीं!

प्रोफेसर—(चकित) एक भी नहीं मरा?

जज—हाँ, वे दोनों बच गये, जैसे इंजिनियर साहब बच गये थे।

प्रोफेसर—(प्रसन्न होकर) तो वे दोनों खुशकिस्मत थे।

जज—वे खुशकिस्मत थे या बदकिस्मत, यह कहानी पूरी होने के बाद ही कहा जा सकता है। हाँ, वे बच गये थे। उनकी गिनती मुरदों में न होकर, घायलों में हुई थी। मिस्टर प्रकाश के शरीर पर अनेक घाव थे और वे सब साधारण थे, लेकिन श्रीमती विमला के जख्म बहुत गहरे थे। उनके दाहिने पैर की हड्डी टूट गई थी। उनके मुख पर बायीं ओर सिर से लेकर ठोड़ी तक एक बड़ी दरार पड़ गई थी।

प्रोफेसर—दरार? उफ!

जज—केवल दरार नहीं, उसका सारा चेहरा घावों से भरा हुआ था। दो दिन तक उसे होश नहीं आया। जब आया, तब वह देख नहीं सकती थी। उसके सारे मुख पर पट्टियाँ बँधी हुई थीं। वह न हिल सकती थी, न कुछ सकती थी। नीम-बेहोशी में वह बस यही पुकारती रहती थी।

(फेड-इन, विमला)

विमला—(फुसफुसाहट) प्रकाश...प्रकाश...तुम कहाँ हो...तुम कहाँ हो? (तेज स्वर) प्रकाश! तुम बोलते क्यों नहीं, बोलते क्यों नहीं? कहाँ हो तुम?

नर्स—न, न, मिसेज़ विमला ! सोइये मत । प्रकाश ठीक है, पर अभी उठ नहीं सकते; वह दूसरे दिन में नहीं आ रहे हैं ।

विमला—(आँखें मूँदती) कहाँ हो तुम प्रकाश ! प्रकाश !!

नर्स—(प्यार से) बस, वह आने वाले हैं । आते ही वाले हैं ।

विमला—(धीमा होता स्वर) प्र···का···श···(शान्ति)

नर्स—(स्वगत) फिर बेहोशी । उफ़ ! क्या ज़िन्दगी है ? क्या से क्या हो गया ? यह शायद रोग; तो क्या होगी उन पर ! ज़िन्दगी खुशगुल्ल थी और अब···आह ! मन भर आता ।

(डाक्टर का प्रवेश)

डाक्टर—नर्स ! क्या हाल है मरीज़ का ?

नर्स—वही धीरे और बेहोशी का सिलसिला है । जागती है, तो बस प्रकाश को पुकारती है और उसका नाम लेती-लेती फिर बेहोश हो जाती है ।

डाक्टर—(पॉज़) तो प्रकाश को बुलाना पड़ेगा ।

नर्स—(कांपकर) डाक्टर !

डाक्टर—बुलाना ही पड़ेगा ! डाक्टर का काम मरीज़ को ज़िन्दा रखना है, नर्स !

नर्स—लेकिन डाक्टर ! यह इसे देखेगा, तो ?

डाक्टर—(गम्भीर) तो इसके दिल को ठेस लगेगी । मैं सब कुछ समझता हूँ, नर्स ! पर इसके बचने का कोई रास्ता भी तो नहीं है । (पॉज़) प्रकाश ठीक है, मैं उसे समझा दूँगा ।

नर्स—डाक्टर ! क्या तुम्हें विश्वास है कि वह समझ जाएगा ?

डाक्टर—नर्स ! हमारा काम प्रयत्न करना है । (पॉज़) और यह दुर्घटना तो जैसे हमारी परीक्षा लेने के लिए हुई है । उफ़ ! इतनी तबाही ! इतना खौफ़नाक हादसा ! बहुत-कुछ देखा है, पर इसका तो ध्यान आते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं । वह कराहट ! वह ज़िन्दगी का तड़पना ! बीमारी सही जा सकती है, पर अपनों की याद और उन पर पड़ता मौत का साया···उफ ! उफ़ ! यह नहीं सहा जा सकता ।

नर्स—आप ठीक कहते हैं, डाक्टर !

डाक्टर—(एकदम) अच्छा नर्स ! तुम उनकी देख-भाल करो ? हमारा काम इन्हें जिन्दा रखना है। (हँस पड़ता है) हमारा काम सब को ठीक करना है (तेज हँसी)

(फेड-आउट)

जज—(गहरा निश्वास) उधर विमला की यह अवस्था थी, उधर प्रकाश की बेचैनी बढ़ रही थी। वह प्रति क्षण उसके पास आने को तड़-पड़ाता रहता था। डाक्टर नहीं चाहते थे कि वह अभी अपनी पत्नी को देखे, पर कब तक ? वे उसे कब तक रोक सकते थे !

प्रोफेसर—जहाँ इतना प्रेम हो, वहाँ तो क्षणों का वियोग भी भारी हो जाता है, फिर वे तो ऐसी हालत में जुदा हुए थे।

इंजिनियर—वह हालत ! जज साहब ! उस रात मैंने जो चीख-पुकार सुनी थी, अस्पताल में पीड़ा को जिस तरह कराहते देखा था, उससे मैं उनकी हालत का कुछ अनुमान कर सकता हूँ। उफ ! वह खौफनाक अँधेरा, वह मौत की भयानक हँसी, इंसान का वह आर्तनाद !

जज—मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ, पर प्रकाश के घाव बहुत गहरे नहीं थे। उसे विमला के पास ले जाया जा सकता था और उसे ले जाया भी गया। लेकिन विमला के डाक्टर ने एकाएक उसे विमला के पास ले जाने की आज्ञा नहीं दी।

(फेड-इन, डाक्टर)

डाक्टर—मि० प्रकाश, तुम समझदार हो ! तुम्हें कुछ और सब करना चाहिए ! विमला की हालत अभी ठीक नहीं है।

प्रकाश—ठीक नहीं है ! यह तो मैं भी जानता हूँ। पर क्या अभी तक उसे होश भी नहीं आया ?

डाक्टर—होश तो आ गया है, पर···

प्रकाश—पर की चिन्ता आप मुझ पर छोड़ दीजिए ! मुझे उनके पास ले चलिए !

डाक्टर—ले तो चलना पर···

प्रकाश—(भावावेश) फिर वही पर ! डाक्टर, वह मेरी पत्नी है।

डाक्टर—(मुस्कराकर) जानता हूँ, मि० प्रकाश !

प्रकाश—तो फिर क्या बात है ? क्या उसकी हालत इतनी खराब है कि...

डाक्टर—इतनी खराब होती, तो आपको जरूर ले चलता। उनके अच्छे होने की पूरी आशा है, पर...

प्रकाश—(एकदम) फिर वही पर ! आखिर आप कहना क्या चाहते हैं ?

डाक्टर—यही कि आपको देखकर उनकी हालत खराब होने का डर है !

प्रकाश—(चीखकर) डाक्टर !

डाक्टर—मैं ठीक कहता हूँ, प्रकाश बाबू !

प्रकाश—(रुआंसा) मुझे देखकर उसकी हालत खराब होने का डर है ! मुझे जो उसका पति है, जो...(एकदम) पर डाक्टर ! क्या वह मुझे पहचान सकेगी ?

डाक्टर—प्रकाश बाबू (पॉज) प्रकाश बाबू ! आपको सब-कुछ बताना होगा ?

प्रकाश—क्या...क्या बताना चाहते हैं, आप ? जल्दी बताइए !

डाक्टर—तो सुनिए, प्रकाश बाबू ! आपकी पत्नी के मुख पर बड़े जख्म हैं। अभी कई दिन पट्टी नहीं खुल सकती।

प्रकाश—(चकित) मुख पर गहरे जख्म हैं ? कई दिन पट्टी नहीं खुल सकती ?

डाक्टर—हाँ, प्रकाश बाबू !

प्रकाश—(एकदम) लेकिन डाक्टर ! मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता। मैं उसे देखना चाहता हूँ। उसे, जो मेरी पत्नी है ! डाक्टर, मैं विमला से प्रेम करता हूँ, उसके मुख से नहीं, (स्वर रुँध जाता है) डाक्टर ! आप भी मनुष्य हैं ! आप भी किसी को प्यार करते हैं। आपको भी वे दिन याद होंगे जब...जब (सहसा रो पड़ता है।)

डाक्टर—(कोमल सान्त्वना के स्वर में) प्रकाश बाबू ! प्रकाश बाबू ! न, न रोइए, नहीं ! आप पुरुष हैं।

प्रकाश—पुरुष हूँ, तो क्या पत्थर हूँ, डाक्टर ? क्या मैं कुछ अनुभव नहीं करता ?

डाक्टर—मैं यह नहीं कहता, मैं यह नहीं कहता !

प्रकाश—तो क्या कहते हैं ?

डाक्टर—यही कि मैं आपको वहाँ ले चलूँगा।

प्रकाश—(एकदम) डाक्टर !

डाक्टर—हाँ, मैं आपको वहाँ ले चलूँगा, पर एक शर्त के साथ।

प्रकाश—उसे देखने के लिए मैं कोई भी शर्त मानने को तैयार हूँ।

डाक्टर—तो सुनिए, मिस्टर प्रकाश ! आप अपनी पत्नी को देख तो सकेंगे, परन्तु बात नहीं कर सकेंगे।

प्रकाश—(ठगा-सा) बात नहीं कर सकूँगा ?

डाक्टर—जी नहीं, उसे यह भी पता नहीं लगेगा कि आप उसके पास हैं।

प्रकाश—यह भी पता नहीं लगेगा ?

डाक्टर—नहीं, वह देख ही नहीं सकती !

प्रकाश—(काँपकर) डाक्टर !

डाक्टर—अभी तो यही बात है, पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, यह ठीक हो जाएगी।

प्रकाश—(थका-सा) अच्छा, डाक्टर ! अच्छा ! मुझे सब कुछ मंज़ूर है।

डाक्टर—तो आइए।

(पॉज, कई क्षण दोनों का चलना, बातें करना)

डाक्टर—यह सामने उर्मी का कमरा है। एक नर्स उसके पास है। बराबर पास रहती है।

प्रकाश—वह मुझे पुकारती है, डाक्टर ?

डाक्टर—आपको ही पुकारती है, पर आप अपनी शर्त याद रखिए ? उसी के भले के लिए मैं आपसे यह सब कह रहा हूँ।

प्रकाश—सब समझता हूँ, डाक्टर ! मैं सब कुछ समझता हूँ। मैं उसे पता भी नहीं लगने दूँगा।

डाक्टर—मुझे यही आशा है। लो हम आ गये। (पुकारकर) नर्स !

नर्स—(पास आकर) यस, डाक्टर !

डाक्टर—नर्स ! आप हैं प्रकाश बाबू। विमला को देखने आये हैं।

नर्स—लेकिन···

डाक्टर—ये सब-कुछ जानते हैं। उसे पता भी नहीं लगने देंगे। जाइए प्रकाश बाबू ! अन्दर आपकी पत्नी है, केवल आपकी पत्नी !

(पॉज, पद-चाप, पॉज)

प्रकाश—(उच्छ्वसित स्वर) वि···म···ल···

नर्स—(मना करती हुई) शी···शी···शी···बोलिए नहीं !

प्रकाश—(संघर्ष करता हुआ) विमल···(सिसकी) वि···वि···

नर्स—नहीं, नहीं प्रकाश बाबू ! सँभालिए अपने को, सँभालिए।

प्रकाश—(हांफता-सा) वि···म···ल ! वि···म···ल···अ···

(शब्द मिटते-मिटते वह गिर पड़ता है)

नर्स—(कांपकर) ओह ! डाक्टर···डाक्टर···

डाक्टर—क्या···क्या प्रकाश बाबू बेहोश हो गये···ओह !

विमला—(धीरे-से) कौन···गिरा ?

नर्स—कोई नहीं··· कोई नहीं···मैं गिर गई थी।

विमला—लेकिन अभी किसी ने कहा था प्रकाश···उन्हें बुला दो। उन्हें बुला दो। वे आये हैं।

नर्स—वे आने ही वाले हैं। बस दो-चार दिन में आने ही वाले हैं।

(पॉज, अन्तर-सूचक संगीत)

डाक्टर—प्रकाश बाबू, प्रकाश बाबू ! आंखें खोलिए !

प्रकाश—(निःश्वास, चकित स्वर) मैं कहाँ हूँ ?

डाक्टर—अस्पताल में।

प्रकाश—ओह, डाक्टर ! आप···समझा···मैं बेहोश हो गया था।

डाक्टर—ऐसा हो ही जाता है, प्रकाश बाबू ! ऐसा हो ही जाता है। आप अपने को सँभालिए।

प्रकाश—मैं ठीक हूँ, डाक्टर ! लेकिन···लेकिन डाक्टर। क्या आप समझते हैं कि मेरी पत्नी ठीक हो जाएगी।

डाक्टर—ठीक क्यों न होगी !

प्रकाश—नहीं, नहीं ऐसे नहीं; आप मुझे साफ बताइए। मुझे बहलाइए मत।

डाक्टर—(पॉज, फिर सहानुभूतिपूर्ण स्वर) प्रकाश बाबू ! मैं गलत नहीं कह रहा। आपकी पत्नी के प्राण तो बच जायेंगे पर···(पॉज)

प्रकाश—(उतावला) पर···पर क्या डाक्टर ! (पॉज) बताइये, डाक्टर !

डाक्टर—(गम्भीर स्वर) पर प्रकाश बाबू ! उनका एक पैर कट गया है। शायद एक आँख भी जाती रहेगी और···

प्रकाश—(भय) और···

डाक्टर—और मुँह टेढ़ा हो जाएगा ?

प्रकाश—(दर्द और फुसफुसाहट) पैर कट गया ! एक आँख जाती रही ! मुँह कुछ टेढ़ा हो जाएगा !

डाक्टर—मुझे बहुत अफसोस है, प्रकाश बाबू ! बहुत अफसोस है ! (पॉज) चार दिन पहले आपकी पत्नी कितनी सुन्दर थी, पर अब··· अब आपको सब्र करना होगा। और कोई चारा नहीं !

प्रकाश—(पागल-सा) और कोई चारा नहीं ! कोई चारा नहीं ?

डाक्टर—नहीं प्रकाश बाबू ! और कोई चारा नहीं ! मैं जानता हूँ, आप उससे मोहब्बत करते हैं। आप बहादुर हैं ! आप अपने को सँभालिये ! अच्छा, मैं चला। गुड नाइट !

प्रकाश—गुड नाइट ! (पॉज, निश्वास, फिर बड़बड़ाता है) कोई चारा नहीं, सब्र करना चाहिए। आपकी पत्नी कितनी सुन्दर थी। एक पैर कट गया, एक आँख जाती रही, मुँह कुछ टेढ़ा हो जाएगा। खूब-सूरत, सुन्दर, घाव, टेढ़ा मुख, एक पैर, एक आँख, घाव ! (हँसता है) सुन्दर, घाव, सुन्दर, टेढ़ा मुख (हँसी धीरे-धीरे तेज होती है) सुन्दर, घाव, टेढ़ा मुख। (सहसा रोने लगता है) विमल कितनी सुन्दर, एक पैर कट गया, एक आँख जाती रही, मुख टेढ़ा हो गया !

(धीरे-धीरे फुसफुसाहट में परिवर्तित होता है, फिर फेड-आउट)

(फेड-इन, जज साहब)

जज—वह रात भर इसी तरह बड़बड़ाता रहा और रोता रहा। उसने किसी से कुछ नहीं कहा, पर उसकी हरकतें पागलों की सी होने लगीं। वह डाक्टरों के लिए एक समस्या बन गया, क्योंकि वह वास्तव में पागल नहीं था। आखिर उन लोगों ने उसे घर भेजने का निश्चय किया। जब उसे यह बात बताई गयी, तो उसने भी कोई ऐतराज नहीं किया। सिर्फ जाने से पहले एक बार अपनी पत्नी को देखने की इच्छा प्रकट की।

प्रोफेसर—और उसकी यह इच्छा मान ली गई ?

जज—हाँ, दोस्त ! वह मान ली गई। और डाक्टर ने उसे पत्नी के पास ले जाने का वह अवसर चुना, जब वह गहरी नींद में सो रही थी उसे कुछ नहीं मालूम था। वह उस दिन न कांपा, न गिरा, बल्कि निहायत संजीदगी से उसके बिलकुल पास जा खड़ा हुआ। कई क्षण मौन, बिना हिले, बिना डोले, वह एक-टक उस अस्पन्दित लोथ को देखता रहा, फिर-फिर सहसा उसने हाथ उठाये।

(फेड-इन, नर्स)

[पॉज, फिर नर्स का व्यग्रता से बोलना]

नर्स—(धीमा स्वर) न, न, प्रकाश बाबू ! छूइए नहीं ?

प्रकाश—नहीं छूऊँ ? अच्छा, नहीं छूऊँगा ?

[पॉज, फिर नर्स का व्यग्रता से बोलना]

नर्स—प्रकाश बाबू ! आप फिर छू रहे हैं ! नहीं-नहीं, वह जाग जाएगी !

प्रकाश—वह जाग जाएगी, वह जाग जाएगी, वह जाग जाएगी ! तो···तो क्या डर है ? मैं आया हूँ, मैं ! (एकदम) नहीं-नहीं वह सो रही है; उसे सोने दो, उसे सोना चाहिए ! सोना चाहिए !

नर्स—(व्यग्रता)—शी...शी...शी... आप जोर से न बोलें ! प्रकाश बाबू, आप उस पर झुकें नहीं !

प्रकाश—केवल एक बार उसे छू लूं ?

नर्स—नहीं-नहीं, अब नहीं, चलिए, आगे न बढ़िए, क्या करते हैं ? (आगे बढ़ती है)

प्रकाश—(पागल-सा) रुको, नर्स ! मैं उसे भुलाना चाहता हूँ। वह सुन्दर है, उसका एक पैर, एक आँख, सुन्दर घाव, सुन्दर मुख (तेजी से हँसकर) नर्स, उसका मुख बहुत सुन्दर है, बहुत सुन्दर ! (दाँत भींचकर) तुमने देखा है, उसका मुख ? नहीं देखा, नहीं देखा, नर्स, देखो !

(अट्टहास, नर्स चीखती है)

नर्स—क्या करते हो, पीछे हटो, पीछे हटो, डाक्टर...डाक्टर !

प्रकाश—(वही अट्टहास) सुन्दर टेढ़ा मुख, सुन्दर घाव, हा-हा-हा !

(भयानक हँसी, संघर्ष, पत्नी की चीख)

नर्स—डाक्टर, डाक्टर, अरे कोई दौड़ो ? प्रकाश ने विमला का गला घोंट दिया ! दौड़ो !

डाक्टर—(भागता आता है) क्या है ? क्या हुआ ? (भीड़ का कोलाहल)

प्रकाश—(हांफता-सा) अब ठीक है, तुम्हारी वेदना खत्म हो गई, तुम्हारी सुन्दरता अमर हो गई ! (कुछ शान्त होकर) डाक्टर ! अब मैं कहीं भी चलने को तैयार हूँ, कहीं भी !

(दुखान्त संगीत के बाद फेड-आउट)

जज—(वेदना-मिश्रित स्वर) और अपनी पत्नी की हत्या के अपराध में वह गिरफ्तार कर लिया गया। उस पर मुकदमा चला, एक लम्बा मुकदमा, एक विचित्र मुकदमा !

इंजिनियर—विचित्र...उफ ! वह भयानक मुकदमा होगा।

प्रोफेसर—भयानक ! उफ ! कितना जटिल है मानव-चरित्र !

इंजिनियर—और इसी जटिल केस का आपने फैसला किया ?

जज—जी हाँ !

प्रोफेसर—मुझे विश्वास है कि अन्त में आपने उसे छोड़ दिया होगा।

जज—मेरे नवयुवक दोस्त ! मैं आपसे पूछना चाहूँगा कि अगर आपको इस मुकदमे का फैसला करना पड़ता तो···

प्रोफेसर—तो मैं उसे छोड़ देता। बिलकुल छोड़ देता। मैं उसके साथ अन्याय नहीं कर सकता था !

जज—मैंने भी नहीं किया, मेरे दोस्त ! मैं अन्याय कर ही नहीं सका। मैंने उसे फाँसी की सजा दी !

प्रोफेसर—(काँपकर) फाँसी !

इंजिनियर—फाँसी ! आपने उसे फाँसी दी ? (गाड़ी की सीटी, पृष्ठभूमि में शोर, "गाड़ी चल पड़ी, गाड़ी चल पड़ी" !)

जज—(वही गम्भीर स्वर) हाँ, मैंने उसे फाँसी की सजा दी। इसलिए दी, कि वह जिन्दगी-भर अपने खूनी हाथों को देख-देख कर तड़पता न रहे। दोस्तो ! उसे जिन्दा रखना उसकी पवित्र भावना का अपमान होता !

[फिर सीटी होती है और गाड़ी चल पड़ती है। शब्द उस शोर में खो जाते हैं।]

डा० रांगेय राघव

डा० रांगेय राघव का नाम आज हिन्दी-जगत् के लिए नया नहीं रह गया है वरन् इनके अनवरत परिश्रम तथा कर्मठ प्रवृत्ति के सभी कायल हो चुके हैं। आपने हिन्दी में लेखन-कार्य को अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया है। हिन्दी की कोई भी विधा अछूती नहीं है जिसमें आपने प्रयोग न किये हों और साथ ही आपको सफलता न मिली हो।

आपने कई एक नाटकों, उपन्यासों, कहानियों तथा आलोचनात्मक निबन्धों से हिन्दी-क्षेत्र की सेवा की है। यों आप राजस्थान के रहने वाले हैं पर शिक्षा-दीक्षा के कारण आगरा को अपना केन्द्र बना लिया था। इन दिनों आप भरतपुर में रह रहे हैं।

नवोदित प्रतिभासम्पन्न साहित्यकारों में आपका स्थान अग्रगण्य है। आपने अपने नाटकों और साहित्य के लिए सामग्री पौराणिक कथानकों, इतिहास तथा समाज की वर्तमान परिस्थिति से ली है तथा एक सतर्क आलोचक की भाँति समाज के अन्तर्द्वन्द्व को पहचानने का प्रयत्न किया है। भाषा सरल परन्तु चुभती हुई और चोट करने वाली है जिसमें पाठक का व्यक्तित्व अपने आप सिहर उठता है।

नाटक का प्रारम्भ

[आगे के दोनों पर्दे खुलते हैं। ब्रह्मलोक में ब्रह्मा, चतुरानन नहीं, एक मुख वाला, उदास-सा घूम रहा है। तीसरे पर्दे पर जल्दी-जल्दी प्रकाश पड़ता है, और बुझ जाता है। यह ब्रह्मा की दृष्टि में दिन और रात का हिसाब दिखाने को काफी है। फुटलाइट मद्धिम हैं।]

ब्रह्मा—दिन और रात !! रात और दिन !! मेरे ही बनाये हुए, दोनों ही किस व्यापक वेग से भागते चले जा रहे हैं। किन्तु अपनी ही सृष्टि में मेरा आनन्द आज एक आश्रय खोजने के लिये व्याकुल हो उठा है।

[नेपथ्य से जब पर्दे पर प्रकाश पड़ता है तब आवाज आती है :]

पितामह ब्रह्मा ! आप क्यों व्याकुल हो गये हैं ?

ब्रह्मा—कौन है ? सूर्य बोल रहा है ?

[प्रकाश चला जाता है। अन्धकार हो जाता है। स्त्री-स्वर आता है—]

हाँ पितामह ब्रह्मा ! वह सूर्य ही था। अनन्त प्रकाश में आगे चला गया है। मैं रात हूँ। आपके, महाविष्णु के और शिव के लोक में तो हम अधिक ठहर ही नहीं पाते।

(फिर प्रकाश)

ब्रह्मा—वही फुलझड़ी का सा खेल ! चारों ओर सूनापन ! सृष्टि को बनाने के पहले का वह उल्लास ! वह ममता ! गया, सब गया; आज केवल एक ऊबा देने वाली झुंझलाहट शेष रह गई है। (स्वर बदल कर) नहीं, महाविष्णु ने जो कहा है, तो मुझे शिव के समीप अवश्य जाना चाहिए। वे अवश्य मुझे कोई मार्ग दिखायेंगे।

[एक नर्तकी का प्रवेश। जिधर से ब्रह्मा आया है उधर से ही]

ब्रह्मा—तुम कौन हो सुन्दरी ?

नर्तकी—अरे ! आप यह नहीं जानते ? कैसा आश्चर्य है ! आप शिव लोक में हैं और आज देवाधिदेव महादेव के मनोरंजन के लिए हम सब गन्धर्व अप्सराएँ अपनी सङ्गीत विद्या का प्रदर्शन करने यहां आये हैं।

[कुछ अन्य नर्तक आते हैं। उसी ओर से]

ब्रह्मा—किन्तु मैं यहां कब आ गया ?

[नेपथ्य से सूर्य का स्वर। धन्य हो पितामह ! आपके लिये काल के व्यवधान का तो कोई अर्थ ही नहीं !]

सब लोग—अरे ! पितामह ब्रह्मा हैं !

[सादर प्रणाम करते हैं ! रंगमंच की दूसरी ओर से शिव अपने प्रसिद्ध रूप में आते हैं। सांपों की आवश्यकता नहीं है, न गङ्गा और चन्द्र की ही।]

शिव—स्वागत प्रजापति ! स्वागत !

ब्रह्मा—प्रणाम देवाधिदेव महादेव (बढ़कर) जीवन भार हो गया है देव ! इस सृष्टि के व्यामोह ने मुझे स्वयं ग्रस लिया है। महाविष्णु से मुक्ति का मार्ग पूछा था। किन्तु क्या बताया उन्होंने, कहा देवाधिदेव शङ्कर से जाकर पूछो। बताइये देव ! आप तो श्मशान में निर्द्वन्द घूमते है और फिर जाकर कैलाश पर समाविस्थ हो जाते है। मेरी रक्षा करिये।

शिव—(मुस्कराकर) शान्त हो प्रजापति ! इन गन्धर्वों के पास सङ्गीत विद्या है, जो जीवन के भारी क्षणों में ऐसी मादकता भरती है कि फिर हृदय सारे कल्मषों को भूल जाता है। नन्दी !

नन्दी—देवाधिदेव !

[मनुष्य रूप में उधर से प्रवेश करता है जिधर से शिव आये हैं।]

शिव—हम प्रजापति ब्रह्मा को कैलाश ले जा रहे है, जहाँ इनका पूर्ण सम्मान करने के लिये उमा हैमवती बैठी होंगी। तब तक तुम इन गन्धर्वों से समस्त नृत्यगीत की विद्या प्राप्त करो और आकर ब्रह्मा को बता दो, किसी प्रकार अतिथिदेव का हृदय तो प्रसन्न हो !

एक नर्तक—देवाधिदेव ! यह आपका लोक तो विचित्र है। यहाँ यह सूर्य का जल्दी-जल्दी आना और चला जाना एक व्याघात है।

शिव—तुम देव-लोक में जाकर आनन्द करो। लौटते समय ब्रह्मा यहीं आ जायेंगे !

नन्दी—जो आज्ञा।

[सब बढ़ते हैं। प्रकाश क्षीण होता है। नर्तक-नर्तकियाँ और नन्दी रंगमंच के अगले भाग में आते हैं। दूसरा पर्दा गिरता है। सूर्य का प्रकाश नये पर्दे पर काफी देर तक दीखता है, फिर देर तक बुझता है। यही क्रम चलता है।]

नन्दी—(सब से) स्वामी की आज्ञा हुई है। किन्तु क्या यह कठिन विद्या मैं सीख सकूँगा।

गन्धर्व—नटराज का सेवक कैसी बात पूछ रहा है। जिसके डमरू के प्रतिध्वनित होने से दिगन्त में अक्षुण्ण प्रवाह अपने आप झूमने लगता है ! और कौन-सा राग है जो तुमने नहीं सीख लिया ?

नन्दी—देखो ! देखो ! जब से देव, दानव, यक्ष और नाग देवलोक को छोड़कर जम्बूद्वीप पर चले गये हैं और आपस में झगड़ा कर रहे हैं, तब से देवलोक का आनन्द ही चला गया है।

गन्धर्व—छोड़ो भी। सुन्दर तरुण और तरुणियाँ अधीर होने वाले हृदय को भावावेश से लिये खड़े हैं। मनोरंजन होने दो।

नन्दी—जितना सीखता हूँ उतना ही हर्ष प्राप्त होता है।

गन्धर्व—नन्दी ! आओ आज हम ऐसा सङ्गीत सुनाएँ, ऐसा नृत्य दिखायें कि सृष्टि के रोम-रोम में आनन्द पुकारने लगे।

[अप्सराएँ नृत्य करती हैं। गन्धर्व गाते हैं। कुछ देर बाद नन्दी भी गाता है।]

गीत

नाचो हे मगन सृष्टि बरसे रसधारा
जागे नूतन प्रकाश, टूटे तिमिर कारा
गूँजे आनन्द मंदिर,
संजीवन से पुकार,
झूमे नन्दन विभोर, मोद मुग्ध तारा !

[नृत्य और गीत समाप्त होता है। जिस ओर ब्रह्मा गया था उसी ओर से प्रवेश करता है।]

ब्रह्मा—धन्य हो नन्दीश्वर! धन्य हो अप्सराओ और गन्धर्वो! आज मेरा हृदय सचमुच गद्‌गद् हो रहा है। सृष्टि को बनाकर भी मुझे इसमें एक सूनापन लगा करता था। किन्तु तुमने अपने सामूहिक जीवन में जो लय-ताल भरी महिमा उत्पन्न कर दी है, वह न जाने क्यों मुझे एक अपूर्व शान्ति देती है?

नन्दी—प्रजापति। आप स्वामी का आतिथ्य स्वीकार करके आ भी गये!

ब्रह्मा—(हँसकर) देवलोक में हो नन्दीश्वर! विष्णु, शिव और ब्रह्मा के लिये तो देवलोक में ये देर-देर में दिखाई देने वाले दिन-रात पल-पल की भाँति बीत जाते हैं। और मनुष्य लोक के तो युगों के बीतने पर भी हमें पता नहीं चलता। मैं तो तुम्हारा गान सुन रहा था, यहीं इस ओर खड़ा-खड़ा। तुम धन्य हो। यह विद्या मुझे दो नन्दीश्वर! सृष्टि करने वाला ब्रह्मा आज तुमसे दान माँग रहा है।

नन्दी—लज्जित न करें देव। आप प्रजा का हित करना चाहते हैं। आपको कुछ भी अदेह नहीं है। जिससे लोक का मनोरंजन हो वह आपके चरणों पर समर्पित है। आज से यह विद्या आपकी हुई। आप इसका चाहे जैसा प्रयोग करें।

[ब्रह्मा प्रसन्न होते हैं। सब प्रणाम करते हैं। नन्दी एक ओर जाता है और जिस ओर से नर्तक-नर्तकी आये थे, उसी मार्ग से चले जाते हैं।]

ब्रह्मा—संगीत! सृष्टि के कण-कण की गति जो नाद उठाती है वही तो संगीत है! समस्त सत्ता का राग जब गूंजता है तब वही तो आनन्द का माध्यम बनता है!

[जिस ओर से नर्तक-नर्तकी जाते हैं, उधर से इन्द्र का प्रवेश।]

ब्रह्मा—कौन? देवराज इन्द्र!

इन्द्र—(प्रणाम करके) देवराज नहीं ब्रह्मा! मैं व्याकुल हो रहा हूँ। मुझे एकान्त चाहिए। मुझे मेरे मन का सूनापन खाये जा रहा है।

ब्रह्मा—क्यों?

इन्द्र—मैं नहीं जानता प्रजापति ! मैंने स्वर्ग में आनन्द किया, पृथ्वी पर जम्बूद्वीप पर अधिकार किया। दानव, यक्ष और नागों से घोर युद्ध करके, समुद्र मथकर, विजय प्राप्त की, किन्तु कहीं, कहीं भी शान्ति नहीं मिली। पृथ्वी पर लूट मची हुई है। किसी भी भाँति विषमता का अन्त ही नहीं हो पाता। वर्णों का विभाजन हो गया है। परस्पर एक दूसरे से घृणा है। वेद पर अधिकार रखने वाले उच्चवर्ण मदान्ध हैं और निम्नवर्णों को तो कोई आनन्द ही नहीं रह गया है।

ब्रह्मा—शान्त हो देवराज ! मैंने जब सृष्टि का निर्माण किया तब मैंने एक बात पर ध्यान नहीं दिया। बुद्धि का प्रयोग करने वाला प्राणी समूह में रहता है और उसे ऐसे साधन चाहिए जो किसी माध्यम से एक के मन को दूसरे के समीप ले जा सके। तुम जाओ देवराज ! मैं इसका कोई उपाय ढूँढ़ निकालूँगा।

[इन्द्र जिधर से आया था उसी ओर उसका प्रस्थान। ब्रह्मा समाधि लगाकर बैठते हैं। नेपथ्य में ओंकार की गूंज उठती है। ब्रह्मा जगते हैं।]

ब्रह्मा—कौन बोल रहा है ?

नेपथ्य से—देव मैं ऋग्वेद हूँ। मेरे साथ सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद हैं। आपने किसलिए हमें स्मरण किया है ?

ब्रह्मा—वेद ! चारों वेद ! ज्ञान के भण्डार तुम्हीं हो। तुमने सुना ! देवराज इन्द्र व्यथित थे। मैंने संगीत और नृत्य विद्या प्राप्त की है, किन्तु उससे केवल मनोरंजन होता है। वह तो काफी नहीं है।

सामवेद की नेपथ्य से ध्वनि—देव मैं सामवेद हूँ। मैं भी संगीत हूँ। मैं स्वयं उन स्वरों को अपने भीतर धारण करता हूँ परन्तु और तो मैं भी नहीं जानता।

ऋग्वेद की नेपथ्य से ध्वनि—देव मैं ऋग्वेद हूँ। मैं बोलने का अंग हूँ। आगे का मार्ग मैं नहीं बता सकता।

यजुर्वेद की नेपथ्य से ध्वनि—प्रजापति मैं जीवन का अभिनय रूप हूँ किन्तु इससे आगे मेरी गति नहीं।

अथर्ववेद की नेपथ्य से ध्वनि—ब्रह्मा ! मुझ में रस तो है, परन्तु वह आगे का पथ प्रशस्त नहीं करता।

ब्रह्मा—तब चारों वेदों से काम नहीं चल सकता। अच्छी बात है। तुम चारों के चारों अंशों को लेकर मैं इकट्ठा करता हूँ। तुम जा सकते हो।

नेपथ्य से चारों का स्वर—जो आज्ञा प्रजापति।

ब्रह्मा—चारों के अंश मेरे पास हैं। किन्तु इससे क्या हुआ ? मुझे और कुछ चाहिए। (सोचकर) अरे ! इतिहास ! तू कहाँ है ?

नेपथ्य से—प्रभु ! मैं यहाँ हूँ।

ब्रह्मा—इतिहास ! तू इन सब तत्वों को धारण कर सकेगा ?

इतिहास का नेपथ्य से स्वर—क्यों नहीं प्रभु ! मैं धर्म, अर्थ और काम का केन्द्रीकरण हूँ। यदि मुझे बोलने का अंश, गीत का अंश, अभिनय का अंश और रस का प्राण मिल जाये तो मैं केवल मनोरंजन ही नहीं, ऐसा रूप धारण कर सकूंगा कि संसार के सब कार्य मेरे माध्यम से दिखाये जा सकें। सुन्दर से सुन्दर उपदेश दिये जा सकें, शास्त्रों का ज्ञान मुझ में दिखाई देगा; मनुष्यों और समस्त प्राणियों की कला मुझ में जाग उठेगी और सब वर्णों के लोग मुझ से आनन्द प्राप्त करने लगेंगे।

ब्रह्मा—तो ले ! मैं तुझे नाट्यवेद का नाम देता हूँ। आज से तू अपने नये रूप में पाँचवें वेद के नाम से प्रख्यात हो। तू कहाँ रहेगा ?

नाट्यवेद का नेपथ्य से स्वर—प्रजापति की जय !

ब्रह्मा—अरे ! तेरा स्वर कैसे बदला ?

नाट्यवेद का नेपथ्य से स्वर—देव ! पहले मैं इतिहास था; तब तक मुझ में यह जीवन नहीं था। अब मैं नये रूप में नाट्यवेद के रूप में हूँ। तभी मेरे स्वर में यह अपूर्व मादकता भर गयी है।

ब्रह्मा—मैं तुझे देखना चाहता हूँ।

नाट्यवेद का नेपथ्य से स्वर—प्रभु ! मैं अपने आप नहीं देख सकता। मेरे लिये नट और नटी बनाइये। मैं उनके माध्यम से प्रकट हो सकूंगा। मेरा प्राण कवि के भाव से उत्पन्न होगा परन्तु मेरी अभिव्यक्ति नट और नटी में ही होगी।

ब्रह्मा—धन्य हो। अब मैं नट और नटी का निर्माण करूंगा।

[समाधि लगाते हैं। पहला पर्दा गिरता है। फुटलाइट बुझती है। एक ओर से मनुष्यलोक वाले भाग में स्वयंभू मनु और अत्रि आते हैं। इस पर्दे के पीछे एक जगह टिका हुआ प्रकाश दिखाई देता है। सूर्य वह है।]

स्वयंभू—अरे प्रभात का धीमा आलोक दिखाई दे रहा है।

अत्रि—प्रजापति स्वयंभू मनु ! आप इतने व्याकुल क्यों हैं ?

स्वयंभू मनु—व्याकुल ! मैंने ही इस पृथ्वी पर वर्णों की मर्यादा को स्थिर किया है अत्रि मुनि ! आप देख रहे हैं, मेरा कार्य कितना कठिन है। चारों ओर हृदयहीन शासन है। मनुष्य मनुष्य के रूप में आखिर किस प्रकार देखा जाए। क्या मेरी यह तृष्णा कभी भी शान्ति नहीं पा सकेगी ?

अत्रि—मैं नहीं जानता।

सूर्य का नेपथ्य से स्वर—कार्य के भार से व्यस्त स्वयंभू मनु ! तुम भले ही न जानो, भले ही अत्रि मुनि भी नहीं जानें किन्तु मैं जानता हूँ ?

स्वयंभू—तुम कौन हो ?

सूर्य का नेपथ्य से स्वर—मैं सूर्य हूँ। तीनों लोकों में घूमना ही मेरा काम है। मैं तुम्हारे आनन्द के लिए बताना चाहता हूँ। सुनो यह आवाज सुनते हो !

[नेपथ्य में आनन्द का संगीतमय कोलाहल]

स्वयंभू—(सुनकर) यह क्या है देव ! सूर्य देव ! यह तो एक दिव्य स्वर है। आज तक कभी ऐसा मीठा स्वर नहीं सुना !

नेपथ्य से सूर्य का स्वर—यह तो सुनने का ही परिणाम है। अभी तुमने देखा नहीं है। प्रजापति ब्रह्मा ने देवी सरस्वती के सामने नट की कल्पना की। उसी समय उनके सामने पाँच शिष्यों के साथ एक मुनि वहाँ आकर प्रकट हो गये।

अत्रि—मुनि ! अर्थात् मनन करने वाले !

नेपथ्य से सूर्य का स्वर—हाँ, हाँ ! पृथ्वी के ही वासी ! ब्रह्मा ने उन मुनिराज से नाट्यवेद ग्रहण करने को कहा। उन्होंने तुरन्त लिया

किया और नाटक दिखाकर ब्रह्मा तथा देवों का मनोरंजन किया, जिससे ऐसे उपदेश जागे कि सब प्रसन्न हो उठे। यह तो ज्ञान का भण्डार है। वे मुनि ही भरत कहलायेंगे क्योंकि ब्रह्मा ने उन्हें वर दिया है। उनके नाम पर ही अब नाट्यवेद भारत कहलायेगा।

अत्रि—किन्तु हम मनुष्यलोक में कैसे उसे पा सकेंगे? हमारी प्रजा को उसकी अत्यन्त आवश्यकता है।

सूर्य का स्वर नेपथ्य से—मैं मानता हूँ मनुष्य को ऐसे कलात्मक उपदेश की अत्यन्त आवश्यकता है जिससे ज्ञान भी मिले, मन भी रस-मय हो और सब को समान रूप से आनन्द मिले। मनोरंजन के साथ-साथ ही बहुजन का मन प्रसन्न हो और लोक-कल्याण हो। भाव-भूमि मनुष्य को मनुष्य के समीप ले आये।

[फुललाइट पूरी तरह जलती है]

स्वयंभू मनु—दिन हो गया।

अत्रि—यह कैसा कोलाहल है?

स्वयंभू मनु—कलह, ईर्ष्या और वैमनस्य ने लोक को ग्रस लिया है। क्या इस व्याकुलता से कभी मुक्ति नहीं होगी?

[भरत का उस ओर से प्रवेश जिधर से स्वयंभू मनु और अत्रि नहीं आये हैं।]

अत्रि—अरे! महर्षि भरत! हम आपको प्रणाम करते हैं।

[दोनों प्रणाम करते हैं]

भरत—व्याकुल न हो अत्रि मुनि! प्रजापति स्वयंभू मनु! अपनी दीनता का परित्याग करो। मैंने सांगोपांग नाट्यवेद का सम्पादन किया है। देखो त्रिभुवन इसके कारण आनन्द से झूम रहा है।

[नेपथ्य से सुरीली संगीत ध्वनि सुनाई पड़ती है। दोनों चौंकते हैं।]

भरत—ब्रह्मा ने मुझे स्वयं नाट्यवेद दिया है। मनुष्य के समस्त ज्ञान का संचय नाट्यवेद मेरे पास है जिस पर किसी वर्ण विशेष का अधिकार नहीं। सब के लिए वह समान है। मनुष्यमात्र की भावभूमि को समान रूप से सुन्दरतर बनाने का ज्ञान मेरे पास है। सकल पृथ्वी पर आनन्द स्थायी रहे, इसीलिए यह ऐसा ज्ञान है, जो एक बार में ही

समाप्त नहीं हो जाता, बार-बार मनुष्य की मेधा इसमें नवीन प्राण भर कर, नये-नये रूपों में इसका सृजन कर सकेगी।

[सहसा पहला पर्दा हटता है, फिर दूसरा भी। पीछे का प्रकाश बन्द हो जाता है।]

स्वयंभू मनु—(चौंककर) देव ! यह क्या हुआ ? काल व्यवधान को भुला कर यह मनुष्यलोक, देवलोक और ब्रह्मलोक से कैसे मिल गया !

[ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, गन्धर्व, अप्सरा, नन्दी आदि सब रंगमंच पर आते हैं। सब प्रसन्न हैं। मनु आदि प्रणाम करते हैं। वे आशीर्वाद देते हैं।]

भरत—(मुस्कराकर) यह नाट्यवेद का ही चमत्कार है स्वयंभू मनु ! अब से मनुष्यलोक ने समस्त लोकों के दर्शन करने की शक्ति प्राप्त कर ली है, जो सब के लिये समान है, और लोक-कल्याण की अमर साधना है। यह बहुजन को आनन्द, मनोरंजन तथा उपदेश देने वाला और ज्ञान धारण करने वाला नाट्यवेद मनुष्य का महान उत्कर्ष है। आगे बढ़ो ! ऊँचे बनो ! कोई रोक बाकी नहीं रही है।

[स्वयंभू, भरत और ऋषि आगे बढ़ते हैं। देवलोक पार करके वे ब्रह्मलोक पहुँचते हैं।]

स्वयंभू मनु—अरे ! मैं कितना सुख पा रहा हूँ। मेरी भावनाएँ कितनी उदात्त हो गयी हैं। आज देवलोक और ब्रह्मलोक की समस्त दिव्य चेतना मनुष्यलोक को ही मिल गई है !!

[गन्धर्व प्रसन्नता से गाते हैं। अप्सराएँ नृत्य करती हैं]

गीत

बंध हीन, मुक्त प्राण, चेतन का रूप सार—
खोले उर की समस्त स्पन्दन भर नया प्यार
त्रिभुवन में ज्योति जगे
शाश्वत हो मिलन महा
प्राणों से प्राण आज बाँधें हों एक सार।

[गीत का अन्त होते-होते पहला परदा गिर जाता है।]